तार्किकचूडामणि-श्रीसर्वदेव-विरचिता

प्रमाणमञ्जरी

बलभद्र-संस्कृतटीका-हिन्दीव्याख्याद्वयसमन्विता

श्री श्री माँ आनन्दमयी कन्यापीठ, वाराणसी

2.2

तार्किकचूडामणि-सर्वदेव-विरचिता

प्रमाणमञ्जरी

(द्रव्यनिरूपणान्तः प्रथमो भागः)

बलभद्रमिश्रकृतसंस्कृतटीकया 'विमला'

हिन्दीव्याख्यया च समलङ्कृता

हिन्दीव्याख्याकर्त्री

ब्रह्मचारिणी गीता बनर्जी

आचार्य, एम० ए०, पीएच्० डी०

श्री श्री माँ आनन्दमयी कन्यापीठ

भदैनी, वाराणसी

प्रकाशक :
श्री श्री माँ आनन्दमयी कन्यापीठम्
भदैनी, वाराणसी

मूल्य : ४०.००

मुद्रक :
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स, बी० २१/४२ ए, कमच्छा, वाराणसी

पुरोवाक्

तार्किकचूडामणि-श्रीसर्वदेवविरचितस्य प्रमाणमञ्जरीग्रन्थस्य बलभद्रमिश्रकृतसंस्कृत-टीकया ब्र० गीता बनर्जी-रचितया विमला-नामिकया च हिन्दीव्याख्ययोपबृंहितस्य द्रव्य-निरूपणान्तं भागं मुद्रितं दृष्ट्वा मम स्वान्तमतीवानन्दितम् । इयं हि प्रमाणमञ्जरी वैशेषिक-शास्त्रीयप्रकरणग्रन्थेषु अतिप्रसिद्धेति चित्सुखादिभिराचार्यैः तत्त्वप्रदीपिकादौ निर्देशाद-स्याः प्रतीयते । परम्परानुरूपमपि पदार्थनिरूपणमत्र भङ्गिविशेषोत्कर्षादपूर्वमिव प्रतीयते । प्रसन्नगम्भीरतया चेयं बहुभिर्मनीषिभिः व्याख्याताऽपि प्रायेण निगूढाशयैवेति मत्त्वा नैयायिकप्रवरेण बलभद्रमिश्रेण विरचिताऽस्याः सुविशदा टीका सर्वा अप्यन्याष्टीका अति-शेते । एतत्सनाथिताऽपि वर्त्तमाने काले शास्त्राध्ययनविमुखानामलसानां जिज्ञासूनां यथा-पूर्वं दुर्बोधैवेति हेतोरस्या बलभद्रटीकासहिताया हिन्दीव्याख्या नितरामपेक्षिताऽऽसीत् । सेयमपेक्षाऽद्यापि संस्कृतशास्त्राध्ययने बद्धादरया श्रीमत्या मातुरानन्दमय्याश्चरणकमल-योर्निरतिशयमनुरक्तया ब्रह्मचारिण्या गीता-नामधेयया (आचार्य, एम० ए०, पीएच० डी० इत्यादि) विविधोपाधिसमलङ्कृतया मूलग्रन्थं भाषाटीकया बलभद्रकृतां टीकां च विमला-नामिकया हिन्दीव्याख्यया समलङ्कृत्य प्रपूरितेति सर्वेषां विदुषाम्, विशेषेण न्यायवैशेषिकशास्त्रयोरधीतिनां साधुवादार्हेयम् । हिन्दीव्याख्यायां क्वचिद् भाषागतं शैथिल्यं च प्रतिपाद्यस्यार्थस्यातिगभीरतया प्रथमत्वेन चास्यास्तदीयकृतेः गुणैकपक्षपाति-भिर्महानुभावैरुपेक्ष्य समनुग्राह्यैवेयं व्याख्यात्री येन भविष्यत्यचिरमेवास्य ग्रन्थस्यावशिष्टो-भागः प्रकाशितो भवेदिति प्रार्थ्यते—

संस्कृतविभागः,
का० हि० वि० वि०

विदुषां वशम्वदः
श्रीनारायणमिश्रः

आमुख

युगयुगान्तरों से मानव सत्यानुसन्धान के लिये ही निरन्तर प्रयत्नशील रहा है। सत्यलाभ ही मानव का अन्तिम लक्ष्य है। तभी तो वैदिक ऋषियों ने उदात्त कण्ठ से उद्घोषित किया है—"सत्यमेव जयते।"

इस दृश्यमान जगत् में सत्य वस्तु कौन-सी है ? जोव, जगत् तथा इसके रचयिता का तत्त्वतः क्या स्वरूप है ? दुःख-सन्तप्त जीव की दुःखनिवृत्ति का क्या उपाय है ? इन्हीं प्रश्नों के समाधान में भारतीय दर्शनों का आविर्भाव हुआ है।

परमात्मा की असीम अनुकम्पा से शैशव से ही मुझे एक ऐसी दिव्य विभूति की छत्रछाया में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिनके अध्यात्म-ज्ञानालोक की निर्मल कान्ति आज भारत में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व में प्रकाशित हो रही है। ये महान् विभूति हैं—साक्षाद् भगवतीस्वरूपा श्री श्री आनन्दमयी माँ।

अध्यात्मपथ के प्रदर्शक भारतीय वैदिक दर्शनों की मूर्तिमती विग्रह-स्वरूपा श्री श्री माँ के चरणतल में रह कर भारतीय दर्शनों के प्रति आकृष्ट होना अत्यन्त स्वाभाविक बात है। मुझे बाल्यकाल से ही भारतीय दर्शनों के प्रति एक सहज आकर्षण था। प्रायः मैं दार्शनिक ग्रन्थों का सामान्य अध्ययन किया करती थी। श्रद्धेया डा० पद्मा मिश्रा के प्रोत्साहन से तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्रद्धेय डा० श्रीनारायण मिश्र जी के विद्वत्तापूर्ण अध्यापन से मैं दर्शन विषय लेकर एम० ए० (संस्कृत) में भलीभाँति उत्तीर्ण हुई। श्रद्धेय मिश्रजी के प्रोत्साहन से ही दर्शन के किसी विषय पर शोधकार्य करने के लिये उत्साहित हुई।

अब प्रश्न था—कौन से दार्शनिक विषय का चयन किया जाय ? आरम्भ से मातृ-सत्संग में तथा महात्माओं के श्रीमुख से निस्सृत अद्वैत वेदान्त के उपदेशों के श्रवण से मेरे हृदय में वेदान्त दर्शन के कुछ संस्कार पड़े हुए थे। परन्तु मैंने अनुभव किया कि वेदान्त दर्शन के गम्भीर तथ्यपूर्ण उच्चकोटि के ग्रन्थ जैसे "अद्वैतसिद्धि", "खण्डनखण्डखाद्य" आदि के अध्ययनार्थ न्याय-वैशेषिक दर्शन का ज्ञान अति आवश्यक है। मैंने श्री श्री माँ के मुख से भी कई बार यह कहते सुना था कि यहाँ की लड़कियाँ न्याय नहीं पढ़तीं ? श्री श्री माँ के उक्त कथन से भी मुझे इस दर्शन के अध्ययनार्थ प्रोत्साहन प्राप्त हुआ।

इस प्रकार मैंने अपनी रुचि के अनुसार तथा डा० मिश्रजी की आज्ञा से शोधकार्य के लिये वैशेषिक दर्शन के एक प्राचीन प्रकरण-ग्रन्थ 'प्रमाणमञ्जरी' का चयन किया। इधर विद्वानों में प्रस्तुत ग्रन्थ दुष्प्राप्य-सा हो गया था। अतः प्रकृत ग्रन्थ के प्रचार

तथा प्रसार के लिये भी इसका शोधकार्य के विषय के रूप में चयन करना उचित था, क्योंकि अनुसन्धान का शाब्दिक अर्थ ही है "भूले हुए तथ्यों की खोज।"

महान् हर्ष का विषय है कि हमारी अपनी संस्था "श्री श्री माँ आनन्दमयी-कन्यापीठ" के स्वर्ण-जयन्ती-महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रमाणमञ्जरी का प्रथम खण्ड हिन्दी व्याख्या-सहित प्रकाशित हो रहा है। यद्यपि प्रमाणमञ्जरी की संस्कृत में तीन टीकायें उपलब्ध हैं तथापि हिन्दी में इसका रूपान्तर करने का यही सर्वप्रथम प्रयास है।

प्रमाणमञ्जरी की टीकाओं में आचार्य बलभद्र मिश्र की टीका ही सबसे प्रौढ़ तथा विद्वत्तापूर्ण है। अतः इसी टीका की 'विमला' नामक हिन्दी व्याख्या प्रकाशित की जा रही है। विशेष स्थलों पर टिप्पणी भी दी गई है।

श्रद्धेय मिश्रजी के निरीक्षण तथा पाण्डित्यपूर्ण अध्यापन से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है, उन्हें मैं सश्रद्ध प्रणाम निवेदन करती हूँ तथा जिन गुरुजनों से एवं मित्र-वर्गों से मुझे सतत प्रोत्साहन मिलता रहा है, उनके प्रति मैं सादर कृतज्ञताज्ञापन करती हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ मुझे कन्यापीठ की छात्राओं से भी सहयोग प्राप्त हुआ है। जिन छात्राओं की सहायता प्राप्त हुई उनके नाम हैं—कुमारी प्रतिमा चटर्जी, कुमारी सन्ध्या बैनर्जी, कुमारी उषा पाल, कुमारी लक्ष्मी चक्रवर्ती, कुमारी सुस्मिता चक्रवर्ती तथा कुमारी वन्दना मित्र। इन्हीं के परिश्रम से यह पुस्तक इतनी शीघ्रता से प्रकाशित हो पा रही है।

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ 'रत्ना प्रेस' भी धन्यवाद के योग्य है।

अन्त में मैं श्री श्री माँ के चरण-कमलों में भक्ति-पुष्पाञ्जलि अर्पण करती हूँ।

माँ आनन्दमयी आश्रम
वाराणसी

गीता बनर्जी

भूमिका

श्रीमोक्षदासम्भवनिर्मलाङ्कां सानन्दमानन्दमयीं प्रसन्नाम्।
निरन्तरं भक्तहृदन्तरस्थां मातृस्वरूपां शरणं प्रपद्ये॥

इस वैचित्र्यपूर्ण संसार में आध्यात्मिक-आधिदैविक और आधिभौतिक—इन त्रिविध दुःखों से सन्तप्त प्राणिमात्र दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिये सतत प्रयन्तशील है। किन्तु दुःख की वास्तविक निवृत्ति तब तक असम्भव है जब तक उसके मूल का उच्छेद न कर दिया जाय। मूल का उच्छेद मूल के स्वरूप के ज्ञान तथा उच्छेद के उपाय के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। इसलिये महर्षियों ने लोकोपकारार्थ इन शास्त्रों की रचना की। इन्हीं को 'दर्शन' कहा जाता है।

दर्शन का अर्थ तथा उपयोग

मानवमात्र का दर्शन के साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध है। मानव विवेकशील प्राणी है। अतः वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विचार के साथ ही कदम उठाता है। मानव अपने जीवन-संग्राम के प्रत्येक पहलू पर विचार करता है। ज्ञात तथा अज्ञात अवस्था में मानव के हृदय में इस जगत् के विषय में अनेक जिज्ञासायें उत्पन्न होती रहती हैं। अतः किसी विद्वान् ने मानव को दृश्य या अदृश्य जगद्-विषयक कतिपय श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओं का समुदाय-मात्र कहा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानव को 'दर्शन' से पृथक् नहीं किया जा सकता।

'दृश्' धातु से करण के अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय से 'दर्शन' शब्द की निष्पत्ति हुई है। 'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' = जिसके द्वारा देखा जाय। कौन पदार्थ देखा जाय? वस्तु का सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप क्या है? हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? इस सर्वतो दृश्यमान जगत् का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई? इन्हीं सब जिज्ञासाओं के समाधान दर्शन में प्राप्त होते हैं। दर्शन को 'शास्त्र' कहते हैं। 'शास्' = आज्ञा करना तथा 'शंस्' = प्रकट करना, इन दो धातुओं से 'शास्त्र' शब्द बना है। 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति आगम-ग्रन्थों में इस प्रकार बतलाई गई है—

'शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्॥'

दर्शन के भेद

अधिकारी-भेद तथा दृष्टि-भेद के आधार पर दर्शन की अनेक विधायें प्रसिद्ध हैं, जिन्हें वर्ग की दृष्टि से नास्तिक और आस्तिक कहा जाता है। नास्तिक दर्शनों में

चार्वाक, जैन, बौद्ध आदि हैं और आस्तिक दर्शनों में (१) सांख्य, (२) योग, (३) न्याय, (४) वैशेषिक, (५) मीमांसा, (६) वेदान्त—ये छः ही मुख्य रूप से प्रसिद्ध हैं। वेद को अपने मूलश्रोत रूप में मानने वाले ही आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं तथा जो वेद को नहीं मानते, उन्हें नास्तिक दर्शन कहा आता है।[१]

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन आस्तिक-वर्ग का ही एक सम्प्रदाय है, जिसमें द्रव्यादि पदार्थों के तत्त्वज्ञान से दुःख-निवृत्तिरूप परमपुरुषार्थ की प्राप्ति का समर्थन किया गया है।

वैशेषिक दर्शन का महत्त्व

यद्यपि दर्शन अनेक हैं, तथापि वैशेषिक दर्शन लोकानुभव-सिद्ध वस्तु का यथार्थ विश्लेषण कर ही मोक्ष का उपदेशक होने से अधिक आकर्षक है। यही कारण है कि बौद्ध, जैन आदि नास्तिक दार्शनिकों ने खण्डनार्थ वैशेषिक-सिद्धान्तों का जितना उल्लेख किया है उतना अन्य सिद्धान्तों का नहीं। यह विषय उनके प्राचीन साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है। किन्तु किसी तरह खण्डन कर दिये जाने मात्र से वैशेषिक दर्शन का महत्त्व कम नहीं होता, अपितु बढ़ता ही है; क्योंकि यदि यह दर्शन अधिक महत्त्व-पूर्ण न होता तो इसके खण्डन में अपनी पूरी शक्ति बौद्ध आदि दार्शनिक नहीं लगाते। इस प्रसङ्ग में महाकवि श्रीहर्ष के निम्नलिखित पद्य का स्मरण होना स्वाभाविक है—

यः स्पर्धया येन निजप्रतिष्ठां
लिप्सुः स एवाह तदुन्नतत्वम्।
कः स्पर्धितुः स्वाभिहितस्वहानेः
स्थानेऽवहेलां बहुलां न कुर्यात्॥[२]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैशेषिक दर्शन अपनी यथार्थता के कारण कितना प्रसिद्ध रहा है।

शास्त्रों से ज्ञान-लाभ के लिये पद और पदार्थों का सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। इनमें पद-ज्ञान के लिये जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र की शरण लेना अनिवार्य है, उसी प्रकार पदार्थ-ज्ञान के लिये वैशेषिक दर्शन की भी आवश्यकता है। वैशेषिक दर्शन की इस आवश्यकता का 'कणादं पाणिनीयञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम्' इत्यादि उक्तियाँ भी समर्थन करती हैं। अतएव वैशेषिक दर्शन की उपादेयता सर्वविदित है।

इस दर्शन के तीन नाम अधिक प्रसिद्ध हैं—(१) वैशेषिक दर्शन, (२) औलूक्य दर्शन और (३) काणाद दर्शन। इनमें 'वैशेषिक' नाम के प्रसङ्ग में ६ प्रकार की युक्तियाँ प्रचलित हैं[३]—

---

१. 'नास्तिको वेदनिन्दकः।'

२. नैषधीयचरितम्, सर्ग १०, श्लो० ५०।

३. 'प्रशस्तपादभाष्यम्'– भूमिका—लेखक दुर्गाधर झा, पृ० १-२।

(१) 'अन्यत्र अन्त्येभ्यो विशेषेभ्यः'[१] इस सूत्र के अनुसार 'अन्त्य' विशेष पदार्थ के साथ सम्बद्ध जो दर्शन, वही वैशेषिक दर्शन है। तात्पर्य यह है कि अन्य किसी दर्शन में 'विशेष' पदार्थ स्वीकृत नहीं हुआ है। अतः विशेष पदार्थ के निरूपण के कारण यह दर्शन विशेष है। अतः इसे वैशेषिक की संज्ञा दी गई है।

(२) न्याय-दर्शन में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है, जबकि इस दर्शन में आत्मा के अशेष विशेष गुणों के पूर्णरूपेण विलयन को ही मोक्ष कहा गया है। अतः विशेष गुणों का अवलम्बन कर मोक्ष को कहने से अन्य दर्शनों से इस दर्शन में विशेष है। इस प्रकार इसे 'विशेष एवं वैशेषिकः' इस स्वार्थिक 'ठक्' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न 'वैशेषिक' की संज्ञा दी गई है।

इसी प्रकार अन्य अनेक कारणों से प्रकृत दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड़ा है। इस विषय में ग्रन्थान्तर में विस्तार से चर्चा की गई है।[२]

औलूक्य दर्शन—महर्षि कणाद किसी उलूक नाम के महर्षि के वंश के थे, अतः उनको 'औलूक्य' कहा जाता है। कणाद-निर्मित दर्शन को औलूक्य दर्शन कहते हैं।

काणाद दर्शन—महर्षि कणाद के द्वारा प्रवर्तित होने के कारण इसे काणाद दर्शन भी कहते हैं।

वैशेषिक जगत् की वस्तुओं के लिये "पदार्थ" शब्द का व्यवहार करते हैं, जबकि नैयायिक प्रमाणों के प्रमेय के रूप में पदार्थों का वर्णन करते हैं।

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता

इस दर्शन के प्रतिष्ठापक महर्षि कणाद[३] माने जाते हैं। इन्हें काश्यप, औलूक्य आदि भी कहा जाता है[४]। इनके काल-निर्णय के विषय में विद्वानों में विप्रतिपत्ति देखी जाती है। परन्तु अधिकांश विद्वानों के अनुसार ये गौतम से प्राचीन थे[५]।

---

१. वै० सू० १।२।६।

२. 'प्रशस्तपादभाष्यम्'—भूमिका—लेखक श्रीनारायण मिश्र, पृ० ९-११।

३. 'कणान् अत्तीति कणादः—' व्योम., पृ० २०
'कणादमिति तस्य कापोतीं वृत्तिमनुतिष्ठतः—' न्या० क०, पृ० ४

४. वैशेषिक दर्शन—(प्रकाशक—दरभंगा मिथिला विद्यापीठ) भूमिका, पृ० २०-२१।

५. प्र० पा० भा०, भूमिका-लेखक—श्रीनारायण मिश्र पृ० ११-१२।
Journal of the American Oriental Society vol xxxi. Ui,—Vaisheshika Philosophy-P. 65, Primer of Indian Logic : P. xii (Introduction).

वैशेषिक-सूत्र

महर्षि कणाद द्वारा प्रणीत वैशेषिक-सूत्र की संख्या ३७० मानी गई है। इस विषय में भी विद्वानों में मतभेद पाये जाते हैं। ये सूत्र १० अध्यायों में विभक्त हैं। प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं।

वैशेषिक-सूत्र की प्राचीन व्याख्यायें

वैशेषिक-सूत्र की प्राचीन व्याख्यायें कभी नितान्त प्रख्यात थीं यद्यपि आजकल वे विस्मृति के गर्त में पड़ी हुई हैं। प्राचीन वृत्तियों में भारद्वाजवृत्ति का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है। यह वृत्ति आज उपलब्ध नहीं है।

आत्रेय

आत्रेय को वैशेषिक-सूत्रों का भाष्यकार बतलाया गया है। जैन दार्शनिकों ने इनका निर्देश अनेक स्थलों पर किया है। वैशेषिक-ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर अज्ञात-कर्तृक वृत्ति में आत्रेय की चर्चा उपलब्ध है।[1]

रावणभाष्य

वैशेषिक-सूत्रों पर यही सबसे पुराना भाष्य था।[2] जिसका उल्लेख अन्यान्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है। परन्तु यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

चन्द्रानन्दवृत्ति

कुछ वर्ष पूर्व बड़ौदा से एक चन्द्रानन्दवृत्ति का प्रकाशन हुआ है। सम्पादक के अनुसार ये वृत्तिकार लगभग ७०० ई० के आस-पास के रहे। यह वृत्ति वैशेषिक-सिद्धान्त तथा सूत्र का तात्पर्य समझाने के लिए बहुत उपयुक्त है।[3]

प्रशस्तपाद (द्वितीय शतक)[4]

प्रशस्तपाद का 'पदार्थधर्मसंग्रह' वैशेषिक तत्त्वों के निरूपण के लिए नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। इसके विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। इसकी प्रसिद्धि ही इसकी महत्ता का परिचायक है। इन्होंने ही ७ गुणों को जोड़कर गुणों की संख्या चौबीस की है। परमाणुवाद, जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय, प्रमाण तथा गुणों का इन्होंने विस्तृत विवेचन किया है।

'प्रशस्तपादभाष्य' पर अनेक आचार्यों की टीकायें उपलब्ध हैं—

---

१. न्या० क०—म० म० विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी की प्रस्तावना, पृ० ७-१०।
२. वोडस—तर्कसंग्रह की प्रस्तावना, पृ० ४०; कुप्पुस्वामी—'प्राइमर आफ इण्डियन लॉजिक' प्रस्तावना, पृ० ३०। Journal of the Oriental Research. vol III. PP. 1-5.
३. प्रशस्तपादभाष्यम्– प्रस्तावना—श्रीनारायण मिश्र, पृ० २१
४. आचार्य ध्रुव—न्याय प्रवेश की प्रस्तावना, पृ० १८

(१) व्योमशिवाचार्य (सप्तम शतक)

व्योमशिवाचार्य की व्योमवती टीका बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है।

(२) उदयनाचार्य (दशम शतक)

उदयनाचार्य ने भाष्य के रहस्योद्घाटन के लिये एक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या 'किरणावली' लिखी है। ये न्याय तथा वैशेषिक दर्शन के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता हैं। 'किरणावली' पर वरदराज तथा वादीन्द्र ने भी टीकायें लिखी हैं। परन्तु वर्धमानोपाध्याय का 'किरणावली-प्रकाश' तथा पद्मनाभ मिश्र का 'किरणावली-भास्कर' अधिक प्रसिद्ध है।

(३) श्रीधराचार्य (दशम शतक)

इनकी भाष्य के ऊपर लिखी गई 'न्याय-कन्दली' टीका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

(४) श्रीवत्स

भाष्य पर इनके द्वारा रची हुई कोई टीका भी थी जो सम्प्रति अनुपलब्ध है।

(५) वल्लभाचार्य (१२ वीं शताब्दी)

इनकी 'न्यायलीलावती' वैशेषिक सिद्धान्तों का आकार है।

(६) पद्मनाभ मिश्र—(१६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध)

इनके टीका-ग्रन्थ का नाम 'सेतु' है, जो द्रव्य प्रकरण तक ही उपलब्ध है।

(७) जगदीश भट्टाचार्य (१७ वीं शताब्दी)

प्रशस्तपादभाष्य की एक टीका जगदीश भट्टाचार्य-निर्मित 'सूक्ति' भी है।

प्रशस्तपादभाष्य पर लिखी गई उपर्युक्त टीकायें ही प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त आचार्यों के द्वारा न्याय-वैशेषिक दर्शन पर महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वैशेषिक-दर्शन के अध्ययन-अध्यापन की सुनिर्मल धारा प्राचीन काल से आजतक अविच्छिन्न भाव से प्रवाहित होती आ रही है। समय-समय पर जैन-बौद्ध आदि दार्शनिकों ने इस दर्शन पर कठोर प्रहार किये हैं परन्तु वैशेषिक-दर्शन के पारङ्गत आचार्यों ने इस दर्शन की शाश्वत आत्मा को जीवित रखने में निरन्तर प्रयास किया है और इस दिशा में वे पूर्णरूपेण सफल भी हुए हैं।

सर्वदेव सूरि

इस सन्दर्भ में तार्किक-चूड़ामणि सर्वदेवसूरि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। बौद्ध-मतों के खण्डनपूर्वक वैशेषिक सिद्धान्तों का सहज-सरल प्राचीन-न्याय की भाषा

में प्रतिपादन करने वाले तार्किक-चूड़ामणि सर्वदेव सूरि का नाम वैशेषिक-आचार्यों की परम्परा में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। इनकी 'प्रमाणमञ्जरी' अपने समय के अमूल्य वैशेषिक ग्रन्थों में से एक है। प्रमाणमञ्जरी वैशेषिक दर्शन का प्रकरण ग्रन्थ है। पदार्थ-विवेचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

सर्वदेव सूरि का समय

अधिकांश प्राचीन ग्रन्थ-प्रणेताओं के सदृश तार्किक-चूड़ामणि सर्वदेव सूरि का भी जन्म-काल अज्ञानके घनान्धकार से आवृत है। अतः इन्होंने किस काल में, किस देश को अपने जन्म से अलंकृत किया था इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। अतएव अनुमान के आधार पर ही इस विषय में निम्नलिखित मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) १३वीं शताब्दी में श्री चित्सुखाचार्य के द्वारा अद्वैतवेदान्त-विषयक 'चित्सुखी' नामक ग्रन्थ का प्रणयन हुआ है। इसके ऊपर श्रीपरमहंस प्रत्यक्स्वरूप भगवान् की 'नयनप्रसादिनी' नामक व्याख्या है। इस व्याख्या में प्रमाणमञ्जरीकार के गुणत्वजातिसाधक 'गुणः कार्यव्यावृत्तजातिमान्[१] कार्यत्वात् तुरगवत्' इस अनुमान को उद्धृत कर इसका खण्डन किया गया है।[२] श्री प्रत्यक्स्वरूप भगवान् का समय आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार १५वीं शताब्दी है। अतः श्रीमङ्गेश रामकृष्ण तेलङ्ग ने प्रमाणमञ्जरी की भूमिका में लिखा है कि ग्रन्थकार के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह प्रत्यक्स्वरूप भगवान् (१५वीं शताब्दी) से पूर्व के थे।[३] श्री पट्टाभिराम शास्त्री ने भी श्री सर्वदेवसूरि का समय १४वीं शताब्दी माना है।[४]

(२) किन्तु सर्वदेवसूरि का अनुमान 'तत्त्वप्रदीपिका' में उद्धृत है—'पृथिवीत्वं नित्यवृत्तिघटवृत्तिजातित्वे सति पटवृत्तिजातित्वात् सत्तावत्'[५]। इसकी व्याख्या में नयन-प्रसादिनीकार ने कहा है। [६]'सर्वदेवीयमनुमानमाह—पृथिवीत्वमिति।' उक्त अनुमान

---

१. प्र० म०, पृ० ९६।

२. तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी), प्रकाशन—स्थान 'उदासीन संस्कृतविद्यालय' काशी-१९५६-'नयन प्रसादिनी, पृ० ३०८; पंक्ति-१२।

३. श्रीप्रत्यग्रूपभगवतः समयस्तु खिस्ताव्दीयपञ्चदशशतकम् १५०० इति केचिदाधुनिका इतिहासज्ञाः। अतः प्रकृतग्रन्थकारः सर्वदेवः खिस्तवर्षीय पञ्चदशशतकात् प्राक्तन इत्येव वक्तुं शक्यते नाधिकम्।' प्र०म० भूमिका म० रा० कृ० तेलङ्ग (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३७)

४. 'अयञ्च सर्वदेवः ईसवीयचतुर्दशशताब्द्यामासीदिति विमर्शकैरनुमीयते' प्र० म०—'सम्पादकीयं किञ्चित्', पृ० ६। राजस्थान पुरातत्त्व-मन्दिर, जयपुर (राजस्थान)।

५. तत्त्वप्रदीपिका, पृ० ४५५।

६. नयनप्रसादिनी, पृ० ४५५।

(कुछ परिवर्तित रूप में या चित्सुखाचार्य के समय उपर्युक्त अनुमान का यही पाठ रहा हो) प्रमाणमञ्जरी के पृ० ९ पर प्राप्त होता है।[१] अतः तत्त्वप्रदीपिका की भूमिका में स्वामी योगीन्द्रानन्द कहते हैं--'यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि तार्किक-चूड़ामणि सर्वदेव सूरि का समय तत्त्वप्रदीपिकाकार (१३वीं शताब्दी) से भी पूर्व का है।[२]

(३) जिनविजयमुनि के अनुसार सर्वदेव सूरि और भी प्राचीन हैं। इनका कथन है कि शिवादित्य की 'सप्तपदार्थी' और सर्वदेव सूरि की 'प्रमाणमञ्जरी' वैशेषिक दर्शन के समकोटि के विशिष्ट प्रकरण ग्रन्थ हैं। इन्हीं में सर्वप्रथम छः पदार्थों के बदले ७ पदार्थ माने गये हैं। जिनविजयमुनि सर्वदेव का समय दशम शताब्दी बताते हैं। इसके लिए वे कई प्रमाण देते हैं[३] :—

(क) प्रमाणमञ्जरी की सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रति कश्मीर में डॉ० व्युहलर को प्राप्त हुई थी, जिसको उन्होंने ११वीं शताब्दी में लिखी हुई बतलाया है।[४] इससे सिद्ध है कि जब ११वीं शताब्दी की लिखी हुई प्रमाणमञ्जरी की प्रति मिलती है तो अवश्य ही १०वीं शताब्दी के अन्त में इसका प्रणयन हुआ है। जिनविजय मुनि के अनुसार ग्रन्थकार कश्मीर देश के निवासी थे और इसीलिए इनकी कृति का प्रचार कुछ समय के बाद धीरे-धीरे हुआ है।

(ख) सबसे पहले प्रमाणमञ्जरी का उल्लेख जिस ग्रन्थ में मिला है, वह है, 'न्यायपरिशुद्धि' नामक ग्रन्थ, जिसका प्रणयन वेंकटनाथ वेदान्ताचार्य ने किया है। वेंकटनाथ का समय ख्रिस्ताब्द १२६७-६९ निश्चित रूप से ज्ञात हुआ है। अतः इससे पहले ही सर्वदेव का होना निश्चित है। 'न्यायपरिशुद्धि' में वेंकटनाथ ने एक स्थान पर हेत्वाभासों की चर्चा के प्रकरण में—

"श्री महाविद्या[५]-मानमनोहर-प्रमाणमञ्जर्यादिपठितवक्रानुमानस्यापि तथात्वम्" इस प्रकार महाविद्या, मानमनोहर के साथ प्रमाणमञ्जरी का उल्लेख किया है। इसके टीकाकार श्रीनिवासाचार्य, प्रायः ग्रन्थकार के ही शिष्य समझे जाते हैं। अतः समकालीन ही माने जाते हैं। इन्होंने अपनी 'न्यायसार' नामक टीका

---

१. 'पृथिवीत्वं नित्यसमवेतवृत्ति, घटपटवृत्तिजातित्वात् सत्तावत्' प्र० म०, पृ० ९।

२. तत्त्वप्रदीपिका, भूमिका, पृ० ३०।

३. प्रमाणमञ्जरी, किञ्चित् प्रास्ताविकम्, पृ० ३, जिनविजयमुनि।

४. डॉ० व्युहलर की कश्मीर में की गई खोज विषय की रिपोर्ट, पृ० २६; तथा डॉ० बेंडाल का बनाया हुआ ब्रिटिश म्युजिअम के संस्कृत ग्रन्थों का सूचीपत्र (केटेलॉग) पृ० १३८, १.३३५; इण्डिया ऑफिस के संस्कृत ग्रन्थों का सूचीपत्र, पृ० ६६६; १.२९७५। टॉकियो (जापान) के सोतोशु कॉलेज के प्रो० हु० उई की लिखी हुई दशपदार्थी के अनुगम-रूप 'वैशेषिक फिलॉसाफी' नामक पुस्तक, पृ० १२६ (पाद-टिप्पणी)

५. न्यायपरिशुद्धि, चौखम्बा ग्रन्थावली में प्रकाशित, पृ० २७८।

में उपर्युक्त पंक्ति की व्याख्या करते हुए कहा है—'श्री[1] महाविद्या-मानमनोहर-प्रमाण-मञ्जरीति ग्रन्थनामधेयानि'। इससे स्पष्ट है कि यह प्रमाणमञ्जरी प्रकरण ग्रन्थ विक्रम की १५वीं शताब्दी के पूर्व ही यथेष्ट सुदूर दक्षिण तक प्रसिद्ध हो चुका था[2]।

(ग) जैन-सम्प्रदाय में भी प्राचीन काल में इस ग्रन्थ का पठन-पाठन विशेष रूप से रहा है, क्योंकि इसकी अनेकानेक प्राचीन प्रतियाँ विशेषतः जैन-ग्रन्थ-भण्डारों में ही उपलब्ध होती हैं। अकबर बादशाह के जैनगुरु सुप्रसिद्ध आचार्य हीरविजयसूरि के प्रधान शिष्य विजयसेनसूरि ने जिन शैव दर्शन के मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का अध्ययन-मनन किया था, उनकी नामावली, उनके जीवन-चरितस्वरूप संस्कृत-महाकाव्य 'विजय-प्रशस्ति' में दी गई है। उसमें तर्कभाषा, सप्तपदार्थी, वरदराजी आदि प्रकरण-ग्रन्थों के साथ प्रमाणमञ्जरी का भी नाम-निर्देश हुआ है। यथा—

"तर्कभाषा-सप्तपदार्थी[3]-वरदराजी-प्रमाणमञ्जरी-प्रशस्तपादभाष्य-कणादरहस्यादयः शशधर-मणिकण्ठ-कुसुमाञ्जलि-किरणावलि-वर्द्धमान-तत्त्वचिन्तामणि - पर्यन्ताः शैवप्रमाणशास्त्राणि"। इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकाल में प्रमाणमञ्जरी का अत्यधिक प्रचार था।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सर्वदेव सूरि प्रायः शिवादित्य मिश्र के समकालीन हैं। अतः इनका समय दशम शताब्दी के आसपास ही है।

क्या सर्वदेव सूरि जैन थे ?

जैन-सम्प्रदाय में प्राचीन काल में प्रमाणमञ्जरी के विशेष रूप से प्रचार को देखते हुए तथा नाम के आगे 'सूरि' कहे जाने से यह अनुमान किया जा सकता है कि सर्वदेव सूरि जैन थे। परन्तु इस विषय में अभी तक कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला है एवं नाम के आगे सूरि कहलाने से ही सर्वदेव जैन होंगे, इसका भी कोई निश्चय नहीं है, क्योंकि 'सूरि' का अर्थ विद्वान् भी होता है।

सर्वदेव सूरि की कृति

तार्किक-चूड़ामणि सर्वदेव सूरि के समय के समान ही इनकी कृतियों के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं हुआ है। परन्तु यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि 'प्रमाणमञ्जरी' सर्वदेव सूरि के द्वारा ही प्रणीत है। केवल 'प्रमाणमञ्जरी' ही सर्वदेव सूरि की अलौकिक प्रतिभा के प्रदर्शन में यथेष्ट है।

---

१. न्यायपरिशुद्धिः न्यायसार, पृ० २७८।

२. महाविद्याविडम्बन (गायकवाड प्राच्य ग्रन्थमाला) की प्रस्तावना, पृ० २३ की पाद-टिप्पणी।

३. विजयप्रशस्ति महाकाव्य, सर्ग १, पद्य ९ की टीका।

प्रमाणमञ्जरी

प्रमाणमञ्जरी सर्वदेव सूरि की एक अनुपम कृति है। 'प्रमाणमञ्जरी' पद का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—"प्रमाणं[१] प्रकृतं शास्त्रम्। तत् पादपस्थानीयम् तस्येयं मञ्जरी वल्लरी अभिनवपल्लवस्थानीयेति"। अर्थात् प्रमाण का अर्थ है वैशेषिकशास्त्र, उसका मञ्जरीभूत यह ग्रन्थ है। वैशेषिक शास्त्र की वृक्ष से उपमा दी गई है। उसकी मञ्जरी अर्थात् वैशेषिक दर्शन के विवेच्य विषयक पदार्थादि ही इस ग्रन्थ में वर्णित हैं। इसप्रकार यह ग्रन्थ अन्वर्थसंज्ञावान् है।

डा० गौरीनाथ शास्त्री ने 'किरणावली' की भूमिका में लिखा है :—'प्रमाण-मञ्जरी[२] अति प्राचीन तथा प्रामाणिक वैशेषिक ग्रन्थ है।' प्राध्यापक धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने अपनी 'भारतीय दर्शन-शास्त्र' नामक पुस्तक में लिखा है :—"वैशेषिक प्रकरणों में 'सर्वदेव सूरि' की 'प्रमाणमञ्जरी' जो कि अभी हाल में प्रकाशित हुई है पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होती है।[३]" यह प्रमाणमञ्जरी लघुकायविशिष्ट होते हुए भी युक्तिप्राचुर्य के कारण प्राचीन काल से विद्वज्जन-मन-मोहिनी रही है।

वैशेषिक-सूत्र, उसके ऊपर प्रशस्तपादभाष्य तथा उदयनादि के द्वारा विरचित ग्रन्थों की दुरधिगमता के कारण ही तार्किक-चूड़ामणि सर्वदेव सूरि ने इस दुर्गम काणाद-कान्तार में सामान्य जनों को सुखपूर्वक प्रवेश कराने के हेतु अतिसरल शैली में इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। यद्यपि इसकी शैली कुछ अधिक प्राचीन है, तथापि अति सहज-सरल तथा सुखबोध्य है। इसकी भाषा भी प्रवाह-युक्त तथा सरल है। सामान्यजन इसे पढ़कर लाभान्वित हो सकते हैं।

प्रमाणमञ्जरी वैशेषिक दर्शन का एक प्रमाणभूत और प्राचीन प्रकरण-ग्रन्थ है। प्रकरण की परिभाषा यह है :—

'शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः॥'

प्रकरण का यह लक्षण प्रमाणमञ्जरी में अक्षरशः प्रतिफलित होता है। प्रमाणमञ्जरी में वैशेषिक दर्शन के विवेच्य सप्त पदार्थों का ही विशेष-रूपेण विवेचन हुआ है।

प्रमाणमञ्जरी की विषयवस्तु तथा इसका महत्त्व

प्रमाणमञ्जरी में पदार्थ का अति सुस्पष्ट लक्षण प्रस्तुत किया गया है। इसमें पृथिवी आदि नौ द्रव्य, रूप-रसादि चौबीस गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव

---

१. प्र० म०-व० टी०, पृ० ३

२. 'किरणावली'—भूमिका, पृ० ८। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय—१९८०।

३. 'भारतीय-दर्शन-शास्त्र'—प्राध्यापक धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृ० १३२।

तथा मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। परमाणु के स्वरूपादि के विषय में विस्तार से चर्चा की गई है।

विद्वानों में यह प्रसिद्धि है—'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।' अतः सर्वदेव सूरि ने भी इस उक्ति का यथार्थतः पालन करते हुए इस ग्रन्थ में प्रतिपादित सभी पदार्थों की लक्षण तथा प्रमाण के द्वारा ही सिद्धि की है। ग्रन्थकार का अनुमान प्रमाण के प्रति कुछ अधिक आग्रह प्रतीत होता है। अनुमान ही इस ग्रन्थ का प्राण कहा जा सकता है। इस अनुमान प्रमाण के लिये ही इस ग्रन्थ का विद्वत्समाज में अधिक आकर्षण प्रतीत होता है। ग्रन्थ में आद्यन्त अनुमान का ही प्राचुर्य है। परन्तु भाषा सहज-सरल होने के कारण ग्रन्थ की सहजाधिगमता अक्षुण्ण है।

आत्मा, बुद्धि, परमाणु, शब्द जैसे रहस्यपूर्ण विषयों पर ग्रन्थकार का सूक्ष्म विचार यथार्थतः सराहनीय है। द्वित्वसंख्या पाकज गुण तथा विभागज विभागादि दुरूह विषयों का सरलता से प्रतिपादन किया गया है। वैशेषिक आचार्यों में यह उक्ति सर्वविदित है:—

"द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥"

वैशेषिकों के प्रत्यक्ष और अनुमान—ये दो ही प्रमाण मान्य हैं। अतः इस विषय पर भी प्रकृत ग्रन्थ में विस्तार से चर्चा की गई है। अन्य प्रमाणों का उक्त दोनों प्रमाणों में अन्तर्भाव भी दिखाया गया है। स्थल-स्थल पर बौद्धों के विचारों का बहुत ही ओजस्वी भाषा में खण्डन किया गया है। उचित स्थलों पर मीमांसक तथा वेदान्तियों के मत का भी खण्डन हुआ है। न्याय-मत का भी यथावसर खण्डन करते हुए वैशेषिक सिद्धान्तों की दृढ़तापूर्वक स्थापना की गई है।

वर्णन-शैली की प्रौढ़ता तथा विवेच्य-विषयों के प्राचुर्य को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रमाणमञ्जरी का महत्त्व अन्य प्रकरण-ग्रन्थों से भी अधिक है। इसमें विषयवस्तु का आधिक्य है तथा ग्रन्थकार प्रत्येक पदार्थ को लक्षण तथा प्रमाण के द्वारा सिद्ध करते हुए ही आगे बढ़ते हैं। अतः इसमें प्रत्येक पदार्थ का परिष्कार तथा सुस्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। अतएव वैशेषिक दर्शन-रूपी उपवन में प्रवेश करने की इच्छा रखने वाले विद्वानों का अवश्य ही यह ग्रन्थ उचित पथ-प्रदर्शक हो सकता है।

यद्यपि प्राचीन काल में इस ग्रन्थ के पठन-पाठन का अत्यधिक प्रचार था तथापि दुर्भाग्यवशतः काल के कराल-गर्त्त में पतित यह ग्रन्थ लुप्तप्राय-सा हो गया। सौभाग्य-वशतः अभी हाल ही में प्रमाणमञ्जरी सर्वप्रथम निर्णयसागर (बम्बई) से १९३७ ई० में प्रकाशित हुई है। इसके बाद एम० के० शर्मा के सम्पादन में १९४२ ई० में पुनः इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ। तदनन्तर १९५३ ई० में 'राजस्थानपुरातत्त्वमन्दिर',

जयपुर (राजस्थान) से भी इसका प्रकाशन हुआ है।[1] प्रमाणमञ्जरी जैसे प्रामाणिक तथा प्राञ्जलभाषा-सम्पन्न विशिष्ट वैशेषिक ग्रन्थ का विदग्ध समाज में अधिकाधिक प्रचार हो—यही ईश्वर के चरणों में प्रार्थना है।

प्रमाणमञ्जरी की टीकायें

प्रमाणमञ्जरी की तीन टीकायें उपलब्ध हैं। ये क्रमशः (१) श्रीमद् अद्वयारण्य, (२) वामन भट्ट तथा (३) बलभद्र मिश्र के द्वारा विरचित हैं। ये टीकायें ग्रन्थ की प्रौढ़ता को प्रकट करती हैं। ये टीकायें ग्रन्थोक्त पदों का पदकृत्य करते हुए विशेष स्थलों पर स्वविचारों को भी उपस्थित करती हैं। इन टीकाओं के अध्ययन से यह भी बोध होता है कि ग्रन्थ के सभी पदों का समुचित प्रयोग हुआ है।

व्याख्यासहित अध्ययन-अध्यापन से ही अध्येता की पदार्थविवेचनशैली परिष्कृत होती है। यही एक ऐसा शास्त्र है, जिसके सभी पदार्थों के ज्ञान से पदार्थ-विवेचन-चातुरी की वृद्धि होती है। जो युक्ति के द्वारा तत्त्वों का परिशीलन करता है वही परमार्थतः तत्त्वों के अवगम में समर्थ होता है। 'नहि प्रतिज्ञामात्रेण वस्तुसिद्धिः' इस प्राचीन उक्ति को देखते हुए टीकाओं का अध्ययन भी अति आवश्यक हो जाता है। पदार्थों का शब्दों के द्वारा अधिगम होने पर भी युक्ति तथा तर्क के द्वारा जानने की लोगों में प्रवृत्ति देखी जाती है। इसीलिये महर्षि कणाद ने इस यौक्तिक शास्त्र का प्रणयन किया है। इसी अर्थ को प्रतिपादित करते हुए भगवती श्रुति कहती हैं—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'। इसमें 'मन्तव्यः' पद का अर्थ तर्क के द्वारा विचार करना है। इसी 'मन्तव्यः' पद को ध्यान में रखते हुए ही सर्वदेव ने प्रमाणमञ्जरी की रचना की। अल्पकाय होते हुए भी इस ग्रन्थ के महत्त्व को देखकर इसके कलेवर की वृद्धि हेतु अद्वयारण्य आदि तार्किकों ने टीकाओं की रचना की। अतः इन टीकाओं का अध्ययन-अध्यापन अत्यावश्यक है।

टीकाकारों का पौर्वापर्य

टीकाकारों के पौर्वापर्य के सन्दर्भ में यही कहा जा सकता है कि बलभद्र मिश्र ने अपनी टीका में 'केचित्', 'अत्र केचित्', 'इति केचन' इत्यादि कह कर स्थल-स्थल पर अन्य मतों को उद्धृत कर उनका खण्डन किया है। ये मत अद्वयारण्य तथा वामन भट्ट की टीका में उपलब्ध होते हैं। अतः बलभद्र मिश्र को तृतीय कोटि में रखा जा सकता

---

1. "Edited by M. R. Tailonga. 1937; Edited by M. K. Sharma AL B 6.2. 1942, 111-122; Edited with Balabhadra Misra's commentary, Advayaranya yogin's commentary, and Vamanabhatta's commentary, by Pattabhirama Sastri, R. P. G 8, 1953. "Encyclopaedia of Indian Philosophies", Page 417 Karl Patter.

है। अर्थात् बलभद्र मिश्र इन दोनों से अर्वाचीन हैं। वामन भट्ट ने प्रायः अद्वयारण्य-टीका का ही अनुसरण किया है। टीकात्रय में यह विशेषता है कि अद्वयारण्य की टीका विस्तृत है, वामन भट्ट की उसी का संक्षिप्त रूप है। वामन भट्ट ने अपनी टीका के अन्त में—'शाके बाणगजत्रिचन्द्रगणिते' वर्षे (१३८५) समाने शुभे' कह कर अपने समय का निर्देश कर दिया है। अतः पञ्चदशशताब्दी के मध्य में वामन भट्ट का होना सुनिश्चित है। अतः पट्टाभिराम शास्त्री के अनुसार अद्वयारण्य प्रथम, वामनभट्ट द्वितीय तथा बलभद्र तृतीय सिद्ध होते हैं।[२] अतएव अद्वयारण्य योगी सबसे प्राचीन हैं। उनके बाद वामनभट्ट तदनन्तर बलभद्र मिश्र हुए हैं।

उपर्युक्त टीकाओं के विषय में क्रमानुसार अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) अद्वयारण्य कृत टीका

संरचयिता अद्वयारण्य योगी के नामानुसार इस टीका का नामकरण हुआ है। यह टीका अतिविस्तृत तथा पाण्डित्यपूर्ण है। प्रमाणमञ्जरी की यह टीका उपर्युक्त वर्णन के अनुसार सबसे प्राचीन प्रतीत होती है। टीकाकार के समय, जीवनचरितादि अज्ञात ही हैं। बम्बई, बीकानेर, भावनगर, पाटन, अहमदाबाद आदि स्थानों के प्राचीन ग्रन्थों के संग्रह में यह टीका उपलब्ध हुई है।

(२) वामन भट्ट की टीका

यह टीका वामन भट्ट के द्वारा विरचित है। यह टीका अद्वयारण्य-टीका का ही संक्षिप्त रूप है। टीकाकार ने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं अपने समय का उल्लेख किया है।[३]

(३) बलभद्र मिश्र कृत टीका

प्रमाणमञ्जरी की यह टीका सबसे अधिक प्रौढ़, विद्वन्मण्डित अतएव महत्त्वपूर्ण है। इस टीका की रचना बलभद्र मिश्र के द्वारा हुई है।

सन् १९४३ ई० के प्रारम्भ में जेसलमेर के ज्ञान-भण्डारों का निरीक्षण करते समय जिनविजयमुनि को वहाँ के एक ज्ञान-भण्डार में बलभद्र मिश्र की व्याख्या वाली प्रमाणमञ्जरी की एक प्राचीन सुन्दर हस्तलिखित प्रति देखने को मिली। इन्होंने उसकी प्रतिलिपि करवा ली। जिनविजयमुनि ने प्रमाणमञ्जरी की भूमिका की पादटिप्पणी में लिखा है कि इन बलभद्र मिश्र ने केशवमिश्र की तर्कभाषा पर भी 'तर्कभाषा-प्रकाशिका' नामक संक्षिप्त परन्तु सुन्दर व्याख्या लिखी है, जिसकी एक प्रति पूना के

---

१. वा. टी., पृ. १०६।

२. प्रमाणमञ्जरी—सम्पादकीयं किञ्चित्—पृ. ६।

३. वा. टी., पृ० १०६।

भाण्डारकर रीसर्च इन्स्टीटयूट के राजकीय ग्रन्थ-संग्रह में सुरक्षित है। इस व्याख्या के आद्यन्त पद्य इस प्रकार हैं :—

आदि—विष्णुदासतनूजेन बलभद्रेण तन्यते।
ध्यात्वा विष्णुपदाम्भोजं तर्कभाषा-प्रकाशिका ॥

अन्त—विष्णुदासतनूजेन माध्वीपुत्रेण यत्नतः।
अकारि बलभद्रेण तर्कभाषा-प्रकाशिका ॥

बलभद्र मिश्र का समय

इन बलभद्र मिश्र का समय-निर्णायक कोई निर्दिष्ट आधार अभी तक ज्ञात नहीं हुआ, परन्तु भावनगर के जैन-भण्डार में प्रस्तुत प्रमाणमञ्जरी-व्याख्या की एक प्रति देखने में आई है, उसका लिपिकाल आदि इस प्रकार लिखा हुआ है :—'संवत् १६६७ वर्षे भाद्रवासुदि १४ दिने वार सोमे प्रती पूरी कीधी, मोढ़ ज्ञातीय पण्ड्या भवान सुत पण्ड्या मेघजी।' इस पंक्ति से इतना तो निश्चित ज्ञात होता है कि वि० सं० १६६७ के पहले ही बलभद्र मिश्र कभी हो गये हैं। इसके पूर्व की समय-मर्यादा का विचार करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तर्कभाषा के कर्ता पं० केशवमिश्र के बाद ही बलभद्र मिश्र हुए हैं। केशव मिश्र का समय, विद्वानों ने प्रायः १३०० से कुछ पूर्व अनुमानित किया है, क्योंकि तर्कभाषा के पहले टीकाकार चिन्नभट्ट हैं, जो ईस्वी की १४वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। दूसरी ओर केशव मिश्र ने अपने ग्रन्थ में प्रसिद्ध महानैयायिक गंगेश के विचारों का अनुसरण किया है, अतः गंगेश के बाद ही केशवमिश्र का होना सिद्ध होता है। गंगेशोपाध्याय का समय विद्वानों ने ई० सं० ११५०-१२०० के लगभग अनुमानित किया है। अतः इस तरह ई० सं० १२००-१३०० के बीच में केशव मिश्र का होना प्रतीत होता है।

अतः जिनविजयमुनि अनुमान करते हैं कि प्रमाणमञ्जरी और तर्कभाषा के टीकाकार ये बलभद्र मिश्र वे ही हैं, जो तर्कभाषा की एक दूसरी व्याख्या करने वाले गोवर्द्धन मिश्र के पिता थे। गोवर्द्धन मिश्र ने अपनी 'तर्कभाषाप्रकाश' नामक व्याख्या में अपना परिचय इसप्रकार दिया है :—

"यस्तर्कभाषामनुभाषते स्म गोवर्द्धनस्तर्ककथासु धीरः।
तेनानवद्येन सुधांशुगौरी कीर्तिर्गुरूणाममृताधिकाऽस्तु ॥
विजयश्रीतनुजन्मा गोवर्द्धन इति श्रुतः।
तर्कानुभाषां तनुते विविच्य गुरुनिर्मितम् ॥
श्रीविश्वनाथानुजपद्मनाभानुजो गरीयान् बलभद्रजन्मा।
तनोति तर्कानधिगत्य सर्वान् श्रीपद्मनाभाद् विदुषो विनोदम्[1] ॥

---

१. श्रीरामकृष्णगोपाल भांडारकर की, सन् १८८२-८३ की संस्कृत साहित्य खोज विषयक रिपोर्ट पुस्तक, पृ० २१३।

बलभद्र मिश्र और गोवर्द्धन मिश्र—दोनों की रचनाशैली प्रायः समान प्रतीत होती है। बलभद्र ने अपनी तर्कभाषाप्रकाशिका के अन्त में जिस प्रकार पिता और माता का नाम-निर्देश किया है, उसी प्रकार गोवर्द्धन मिश्र ने भी अपने माता-पिता का नाम-निर्देश किया है। इस विषय में और अधिक अन्वेषण अपेक्षित है।

जिनविजयमुनि को बलभद्र मिश्र की तर्कभाषाप्रकाशिका व्याख्या की एक विशेष प्राचीन प्रति मिली है जो वि० सं० १६०७ को लिखी हुई है। इस प्रति के अन्त में लिपिकार ने अपना परिचय दिया है :—

"श्रीमन्त्रिपाठीविष्णुदासतनय—श्रीबलभद्रमिश्रविरचिता तर्कभाषाप्रकाशिका समाप्ता ॥ संवत् १६०७ चैत्र शु० दि० सोमे। भ० हरिनाथसुत नाकरेण। लिषितमिदं तर्कभाषायाः टिप्पणकं ॥ शुभं भवतु ॥"

इस प्रति की स्थिति देखने से ज्ञात होता है कि यह किसी विशेष प्राचीन प्रति से प्रतिलिपि के रूप में तैयार की गई है। अतः इसके आधार पर बलभद्र का समय वि० सं० १६०० के पूर्व का तो सिद्ध है ही।

प्रमाणमञ्जरी के ऊपर लिखी गई टीकाओं में बलभद्र मिश्र की टीका सबसे अधिक प्रौढ़ है। इसकी मौलिकता तथा प्रौढ़ता के कारण ही 'राजस्थान पुरातत्त्व-मन्दिर' जयपुर (राजस्थान) से प्रकाशित प्रमाणमञ्जरी में बलभद्रमिश्र की टीका सर्वप्रथम रखी गई है। उसके बाद अद्वयारण्य की टीका तदनन्तर वामनभट्ट की टीका मुद्रित है॥ प्रमाणमञ्जरी के साथ-साथ उपर्युक्त टीकाओं का भी पठन-पाठन अत्यधिक आवश्यक है।

——

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्त्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ।।

विषयसूची

श्रीः

तार्किकचूडामणि-श्रीसर्वदेव-विरचिता

प्रमाणमञ्जरी

बलभद्रकृत-संस्कृतटीका-हिन्दीव्याख्याद्वयसमन्विता

कासारतीरसरसीरुहमाददानः
शुभ्रं भ्रमद्भ्रमरमध्यमिवेन्दुबिम्बम् ।
द्वैमातुरश्चिरतरं भवतस्स पायात्
सञ्जातनिर्मलजलप्रतिबद्धनर्मा ।। १ ।।

भाषाटीका— नत्वानन्दमयीं देवीं सामान्यजनबोधिनी।
प्रमाणमञ्जरीटीका भाषायाञ्च विधीयते ॥

किसी कार्य के प्रारम्भ में इष्ट देवता आदि के स्मरण को 'मंगल' कहते हैं। यह शिष्टाचार है कि प्रत्येक इष्ट कार्य के आरम्भ में मंगलाचरण अवश्य किया जाता है।

अतः तार्किक चूड़ामणि सर्वदेव सूरिने भी प्रमाणमञ्जरी के प्रारम्भ में उपर्युक्त पद्य में विघ्नहरण गजानन का स्तवन किया है—

चन्दनादि से सुगन्धित निर्मल जल में क्रीड़ा करते हुये तथा सरोवर के तट पर खिले हुये, जिनके मध्य में काले भ्रमर मंडरा रहे हैं ऐसे चन्द्रसदृश श्वेत कमलों का अपने शुण्ड से आकर्षण करते हुये गजानन आप लोगों की रक्षा करें। पक्षान्तर में—नभोमण्डल में क्रीड़ासक्त गणेशजी शुण्ड से शशिमण्डल का आकर्षण करते हुये आप की रक्षा करें ॥

श्रीबलभद्रविरचिता टीका (ब० टी०)

नत्वा हरिपदं मत्वा गुरोरर्थं प्रयत्नतः ।
प्रमाणमञ्जरीटीका बलभद्रेण तन्यते ।। १ ।।

विमला—प्रणम्य मातरं धात्रीमशेषक्लेशहारिणीम् ।
क्रियते बलभद्रस्य व्याख्येयं विमला शुभा ॥

श्री बलभद्रजी अपनो प्रमाणमञ्जरी की टीका के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हुये लिखते हैं—

श्रीहरि के चरणकमलों को प्रणाम करते हुये तथा अपने गुरु की शिक्षा का यत्नपूर्वक मनन करते हुये मेरे (बलभद्र के) द्वारा प्रमाणमञ्जरी की टीका का विस्तर किया जा रहा है ॥

ब० टी०—निर्विघ्नग्रन्थपरिसमाप्तिकामनया कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति—कासारेति। द्वैमातुरः द्वे मातरौ अस्य स तथा गणेशः भवतः श्रोतॄन् चिरं पायात्, स विघ्नसंहारकत्वेन यतः प्रसिद्धः। स्तुतिरूपं मङ्गलमाचरति—सञ्जातेति। एतावता हर्षविशिष्टतया स्मृता देवता फलं ददातीति द्योतितम्। सञ्जातम् अभिनवम्। यद्वा सञ्जातं चन्दनादिना संस्कृतम्, एतादृशं यज्जलं तत्रारब्धा नर्मक्रीडा येन, जलक्रीडायां यदुचितं तदाह—कासारेति। कानां जलानाम् आसारः आगमनं यत्र स कासारः तडागः।

विमला—प्राचीन नैयायिक मंगल का फल विघ्नध्वंसपूर्वक ग्रन्थ की परिसमाप्ति हीं मानते हैं। अतः निर्विघ्न रूप से ग्रन्थ की परिसमाप्ति की इच्छा से शिष्य के शिक्षणार्थ ग्रन्थकार ने उपर्युक्त पद्य में मंगलाचरण किया है—दो मातायें जिनकी हैं ऐसे गणेशः जी आप श्रोता तथा अध्येताओं की चिरकाल तक रक्षा करें। कारण, विघ्नसंहर्त्ता के रूप में गणेश जी की प्रसिद्धि है।

मंगल तीन प्रकार के होते हैं—(क) कायिक, (ख) वाचिक तथा (ग) मानसिक। प्रकृत में स्तुतिरूप वाचिक मङ्गल प्रस्तुत किया गया है।

चित्त प्रसन्न होने पर हीं कोई किसी का उपकार कर सकता है, अतः विघ्नसंहारक गणेशजी प्रसन्न होकर हीं फल प्रदान करते हैं। अर्थात् हर्ष-विशिष्ट देवता के स्मरण करने पर हीं अभीष्ट की सिद्धि होती है, यह सूचित होता है। उपर्युक्त पद्य में प्रविष्ट 'सञ्जात' पद का अर्थ नूतन है, क्योंकि नूनन जल से आनन्द होता है। अथवा 'सञ्जात' का अर्थ चन्दनादि से संस्कृत (सुगन्धित) होना भी है। इस प्रकार निर्मल गङ्गाजल में गणेशजी क्रोड़ारत हैं, यही उक्त पद्य का आशय है।

अब ग्रन्थकार उक्त पद्य में जल-क्रीड़ोचित दृश्य का वर्णन करते हैं—"कानां जलानाम् आसारः आगमनं यत्र स कासारः तडागः" अर्थात् प्रचुर जल जहाँ एकत्रित हो, ऐसे मानसादि सरोवर।

ब० टी०—यद्वा ईषदासारः कासारः अल्पसरः, अल्पसरसि एतत्तीरसमीपजातं यत्सरसीरुहं कमलम्। कीदृशम्? शुभ्रम्। पुनः कीदृशम्?

भ्रमद्भ्रमरमध्यं मध्ये भ्रमरेणाक्रान्तम् । आददानः शुण्डादण्डेनाकर्षन्, आदधान इति पाठे बिभ्रदित्यर्थः । भ्रमत् कम्पमानम् । यद्वा भ्रमद्भ्रमर-मध्यमित्येकमेव पदम्, भ्रमत्क्रियाविशेषविशिष्टो भ्रमरो यत्र तद्भ्रमद्भ्रमरं तादृशं मध्यं यस्य तत्तथा । केचित्तु ध्यानरूपमेव मङ्गलं शिष्यायोपदिष्ट-मुपमानबलेन उत्प्रेक्षाबलेन वा ध्यानान्तरमाह—इन्दुबिम्बमिवेत्याहुः । एतावता गगने नाट्यासक्तो विघ्नराजः करेण शशिमण्डलं कर्षन् ध्येय इति भावः । केचित्तु ध्यानं यद्यपि मङ्गलं न भवति, तथापि प्रायश्चित्त-वद्दुरितनिवर्तकं भवतीत्याहुः ।

विमला—अथवा 'कासार' पद का अन्य अर्थ भी हो सकता है। अल्पजल वाले छोटे से सरोवर के तट पर खिले हुये श्वेत कमल, जिसके मध्य में भ्रमर मंडरा रहे हैं ऐसे कमल को सूँड से लेते हुये गणेशंजी सुशोभित हो रहे हैं। क्वचित् 'आदधानः' पाठ होने पर 'धारण करते हुये' ऐसा अर्थ होगा। 'भ्रमत्' पद को पृथक् रूप से कमल का विशेषण मानने पर अर्थ होगा कम्पमान कमल। अथवा 'भ्रमद्भ्रमरमध्यं' को एक पद मानने पर भ्रमत्क्रियाविशेषणविशिष्ट जो भ्रमद्भ्रमर तादृश मध्यभाग जिसका ऐसा जो कमल, उसे सूंड से धारण करते हुये गणेशजी आप की रक्षा करें–ऐसा अर्थ होगा।

किसी के मत में ध्यान रूप हीं मंगल होता है, शिष्य को उपदेश देने की इच्छा से किये गये उक्त मंगल-श्लोक का उपमा या उत्प्रेक्षा की दृष्टि से इस प्रकार अर्थ भी किया जा सकता है—उपमा जैसेः—जिस प्रकार शुभ्र निर्मल चन्द्र अपने काले कलङ्क-चिह्न से अधिक मनोरम प्रतीत होता है उसी प्रकार श्वेत कमल के मध्य काले भ्रमर के मँडराने से अधिक रमणीय शोभा होती है, उत्प्रेक्षा—जैसे मानो भ्रमरयुक्त यह शुभ्र कमल चन्द्रमा हीं है। उसे गगन में नाट्यासक्त गणेशजी सूँड से ग्रहण कर रहे हैं। ऐसे गणेशजी हम सबके ध्येय हैं।

जो मंगल को ध्यानरूप नहीं मानते वे भी ध्यान को प्रायश्चित्त के समान पाप-नाशक अवश्य मानते हैं।

अभिवन्द्य विधोरर्द्धधारिणञ्च कणव्रतम् ।
प्रमाणमञ्जरी सर्वदेवेन क्रियते मया ॥

भाषाटीका—अर्धचन्द्रधारी भगवान् शंकर को तथा कणव्रतधारी (ऐसी प्रसिद्धि है कि खेत से फसल काट लिये जाने पर जो अनाज के कण पड़े रहते थे उन्हीं से अपने जीविका निर्वाह करने के कारण इन्हें कणाद कहा जाता है, ऐसे) कणाद को प्रणाम करते हुए मैं सर्वदेव प्रमाणमञ्जरी की रचना करता हूँ॥

ब॰ टी॰—बहुतरविघ्ननिवारणाय विद्याधिष्ठातारमीश्वरम् एतच्छास्त्रप्रणेतृकणादमुनिञ्च नमन् अभिधेयं निर्दिशति-अभिवन्द्येति। प्रमाणं प्रकृतं शास्त्रम्। तत् पादपस्थानीयम्। तस्येयं मञ्जरी वल्लरी अभिनवपल्लवस्थानीयेति भावः।

विमला—विघ्नों के आधिक्य के निवारणार्थ अधिक मंगल की आवश्यकता होती है, जैसे बाणादि के मंगलाचरण करने पर भी ग्रन्थ की समाप्ति नहीं देखी जाती। इसमें कारण है विघ्नों की प्रचुरता की दृष्टि से मंगल की न्यूनता।

अतः अधिक विघ्नों के निवारण के लिये विद्या के अधिष्ठातृ-देवता भगवान् शंकर का तथा वैशेषिक-शास्त्र के प्रणेता महर्षि कणाद का उपर्युक्त पद्य में ग्रन्थकार ने नमन किया है।

'प्रमाणमञ्जरी' इस ग्रन्थ का नाम है। टीकाकार के अनुसार "प्रमाणमञ्जरी" पद का अर्थ इस प्रकार है:—"प्रमाण का अर्थ है—प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्' अर्थात् प्रमा का जो करण हो। प्रमाण-प्रतिपादक शास्त्र होने से वैशेषिक-शास्त्र को भी 'प्रमाण' या 'तर्कशास्त्र' कहा गया है। "प्रमीयन्ते निश्चीयन्ते अर्था अनेनेति प्रमाणम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रमाणशास्त्र का अर्थ होगा, जिससे पदार्थों का निश्चय हो वह वैशेषिक-शास्त्र बुद्धिस्थ है।

प्रमाणशास्त्र-रूपी वृक्ष की मञ्जरी-स्वरूप यह ग्रन्थ है। जिस प्रकार आम्र, अशोकादि वृक्षों की मञ्जरी होती है उसी प्रकार प्रमाणशास्त्र-स्वरूप वृक्ष की यह मञ्जरी अर्थात् प्रतिपाद्यविषय पदार्थादि हैं। मञ्जरी का अर्थ वल्लरी = रक्त-कोमल-किसलय = नूतन पत्र है। वैशेषिक शास्त्र की यह अभिनव कृति है। यही तात्पर्यार्थ है।

इससे अनुबन्ध-चतुष्टय[1] का भी बोध होता है। वैशेषिक-शास्त्र के अध्येता हीं प्रकृत ग्रन्थ के अधिकारी हैं। पदार्थादि इस ग्रन्थ के विषय हैं। प्रकृत ग्रन्थ और पदार्थादि विषयों में प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव-रूप सम्बन्ध है। प्रयोजन है पदार्थों के तत्त्वज्ञानपूर्वक मोक्ष।

पदार्थलक्षणं तद्विभागश्च

अभिधेयः पदार्थः। स भावाभावभेदेन द्विधा।
पूर्वो विधिविषयः। स षोढा, द्रव्यादिभेदेन॥

भाषाटीका—अभिधा अर्थात् शब्द अथवा शब्द की शक्ति—शब्द का जो विषय है, यानी शब्द के द्वारा जिसे कहा जाय वही पदार्थ है। पदार्थ भाव और अभाव रूप

१. अनुबन्धचतुष्टय—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन।

से दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाव पदार्थ ६ प्रकार के हैं—द्रव्यादि-भेद से—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय।

ब० टी०—विशेषलक्षणानि कर्तुं पदार्थसामान्यलक्षणमाह—अभिधेय इति। अभिधा शब्दः, तच्छक्तिर्वा, तद्विषयत्वं पदार्थलक्षणम्। तेन नाभिधापदवैयर्थ्यम्। यद्वा नेदं लक्षणम्, व्यावृत्यभावात् किन्तु पदार्थपद-प्रवृत्तिनिमित्तम्। प्रवृत्तिनिमित्ते च वैयर्थ्यं न दोष इति भावः।

विमला—त्रिभुवननायक, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के पालक, परमपिता परमात्मा के द्वारा विरचित इस दृश्यमान वैचित्र्यपूर्ण जगत् की जिन स्थूल तथा सूक्ष्म वस्तुओं का हमें वाह्य-आन्तर इन्द्रियों अथवा अन्य किसी प्रमाणों के द्वारा बोध होता है, उन्हें हीं वैशेषिक दर्शन में 'पदार्थ' की संज्ञा दी गई है। 'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' इस नियम के अनुसार भारतीय मनीषियों में अपने शास्त्रसम्मत दार्शनिक तत्त्वों को लक्षण तथा प्रमाण के द्वारा हीं सिद्ध करने की परम्परा देखी जाती है। वैशेषिक-सूत्रकार तो नहीं परन्तु इस दर्शन के अन्य आचार्यों ने वैशेषिक-सम्मत 'पदार्थ' का अतिगम्भीर तथा तथ्यपूर्ण लक्षण प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार उक्त परम्परा को देखते हुए पदार्थ का लक्षणः तार्किक चूड़ामणि सर्वदेव सूरि ने भी (चूँकि विशेषलक्षण के लिए पदार्थ का सामान्य लक्षण अपेक्षित है अतः) अपने ग्रन्थ प्रमाणमञ्जरी में सर्वप्रथम पदार्थ का सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया है :—'अभिधेयः पदार्थः'। अभिधा का अर्थ शब्द या शब्द की शक्ति है। 'अभिधीयते अनेनेति अभिधा'।

अर्थात् जिसके द्वारा किसी वस्तु का शब्द से अभिधान हो अथवा पदार्थ का बोध हो, वही अभिधा अर्थात् शब्द की शक्ति है। अतः शब्द या शब्द की शक्ति को अभिधा कहते हैं। वस्तुतः शक्ति को हीं अभिधा कहते हैं, अभिधा का जो प्रतिपाद्य विषय है, वही अभिधेय पदार्थ है, अर्थात् पद या शब्द (संज्ञा) के द्वारा जिसे अभिहित किया जाता है वही पदार्थ है।

अभिधा जिसे शब्द के द्वारा प्रतिपादित करती है वही 'पदार्थ' है। अतः लक्षणान्तर्गत 'अभिधेय' पद व्यर्थ नहीं है। यतः 'वाचः अर्थः वाच्यार्थः (पदार्थः) अथवा पदस्य अर्थः पदार्थः' यह लक्षण करने पर लक्ष्य के अन्तर्गत शक्यार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ तीनों हीं आ जाते परन्तु 'अभिधा' पद से शक्यार्थ का ही बोध होता है। कारण न्याय-वैशेषिक सभी पदों तथा अर्थों के बीच शक्ति-रूप सम्बन्ध को ही मानते हैं। अतः 'अभिधेयत्व' केवलान्वयी है और अभिधेयत्व को केवलान्वयी सिद्ध करने के लिए पदार्थ का लक्षण अभिधेयत्व करना उचित भी है। वेदान्ती ब्रह्म को लक्ष्यार्थ मानते हैं, इसके विरुद्ध न्याय-वैशेषिक सभी पदार्थों को शक्यार्थ सिद्ध करते हैं।

यह तो सिद्ध हीं है कि लक्षणा तथा व्यञ्जना में भी शक्ति की आवश्यकता होती है। जैसे—लक्ष्यार्थ में मुख्यार्थ बोध के बाद मुख्यार्थ का बाध होने पर ही लक्ष्यार्थ गृहीत होता है। व्यङ्ग्यार्थ-बोध के पूर्व भी मुख्यार्थ-बोध आवश्यक है। अतः अभिधास्वरूप शक्ति की तीनों अर्थों में आवश्यकता है। इस प्रकार जहाँ भी पदार्थत्व है वहाँ अभिधेयत्व होने से लक्षण में 'अभिधेयः' पद व्यर्थ नहीं है।

लक्षण से दो काम होता है 'व्यवहारो व्यावृत्तिर्वा'। जैसा कि कहा गया है 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्'। व्यवहार का अर्थ शब्द-प्रयोग तथा व्यावृत्ति का अर्थ एक पदार्थ को दूसरे पदार्थों से पृथक् सिद्ध करना है। लक्षण वही होता है जो व्यक्ति का असाधारण स्वरूप हो। जैसे 'सास्नादिमत्त्वम्' (गलकम्बलत्वम्) गौ का असाधारण स्वरूप है। अतः सास्नादिमत्त्वविशिष्ट जीव के लिए हम 'गो' पद का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार सास्नादिमत्त्वरूप असाधारण धर्म हीं गौ को अश्वादि से पृथक् सिद्ध करता है। अतः सास्नादिमत्त्व से गो पद का व्यवहार तथा अन्य जीवों से व्यावृत्ति होने से सास्नादिमत्त्व हीं गौ का लक्षण हुआ।

यह ज्ञातव्य है कि केवलान्वयिधर्म कभी लक्षण नहीं हो सकता, कारण वह साधारण रूप से सभी में पाया जाता है।

अब शंका की जाती है कि अभिधेयत्व भी केवलान्वयी होने से पदार्थ का लक्षण नहीं हो सकता। कारण ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो अभिधेय न हो, दूसरी ओर सभी पदार्थों के अभिधेय होने से अभिधेयत्व पदार्थों को किसी पदार्थ से व्यावृत्त भी नहीं कर सकता, इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अभिधेयत्व पदार्थ का लक्षण नहीं हो सकता।

उक्त शंका के समाधान में टीकाकार बलभद्रमिश्र का कहना है कि व्यावृत्ति के अभाव से अभिधेयत्व के पदार्थ का लक्षण न होने पर भी कोई दोष नहीं, कारण यह 'पदार्थ' पद का प्रवृत्तिनिमित्त है।

'प्रवृत्तिनिमित्त' का अर्थ है जिस वैशिष्ट्य के कारण किसी अर्थ के लिए शब्द-प्रयोग किया जाय। इसी को शास्त्रीय भाषा में कहा गया है—'वाच्यत्वे सति वाच्य-वृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितीयप्रकारताश्रयत्वम्'—जो कि वाच्य हो, वाच्य में रहे तथा वाच्य में उपस्थित प्रकारता (विशेषणता) का आश्रय हो, जैसे गोत्व स्वयं वाच्य है, वाच्य गौ में रहता है तथा वाच्य गौ में प्रकार (विशेषण) के रूप में भासित होता है। अतः गोत्वविशिष्ट गौ के समान अभिधेयत्व-पदार्थत्व आदि पदार्थ के प्रवृत्तिनिमित्त धर्म होने से अभिधेयत्वविशिष्ट पदार्थ अथवा पदार्थत्वविशिष्ट पदार्थ अर्थ करने पर अभिधेयत्व के प्रवृत्तिनिमित्तरूप पदार्थ के स्वाभाविक धर्म होने से लक्षण न होने पर भी 'अभिधेयत्व' पद को व्यर्थता दोषाधायक नहीं है।

ब० टी०—उद्देशस्तु पदार्थपदेन द्योतितो हृदिस्थो बोध्य इति। विशेषविभागमाह—स इति। पूर्व इति। भावरूपः। स इति। विधि-

विषय इत्यर्थः । तथा च भावत्वं भावत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वं वा भावलक्षणं सूचितं भवति ।

विमला—न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है—इस शास्त्र की (न्यायशास्त्र की) प्रवृत्ति—रचना उद्देश, लक्षण और परीक्षा इन तीन रूपों में है। अर्थात् इस शास्त्र के तीन कार्य हैं—उद्देश करना, लक्षण बताना और लक्षण के युक्तत्व-अयुक्तत्व की परीक्षा करना।

"उद्देश" शब्द का अर्थ है नाम मात्र से पदार्थों का अभिधान। टीकाकार बलभद्रमिश्र के अनुसार प्रमाणमञ्जरी में वह उद्देश "पदार्थं" पद से हीं लक्षणवाक्य में संगृहीत हुआ है। ग्रन्थकार के मन में यही विचार है।

उद्देश किये गये (नाम से कहे हुये) पदार्थों का तत्त्वव्यवच्छेदक धर्म अर्थात् तत्त्वों के भेद की सिद्धि करने वाला धर्म ही लक्षण है। 'परितः ईक्षणं परीक्षा" इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'परीक्षा' शब्द का अर्थ है लक्षित (जिनका लक्षण किया है ऐसे पदार्थों) का जैसा लक्षण किया गया है वह उपयुक्त है या नहीं—इस प्रकार प्रमाणों से निश्चय करना।

प्राचीन वैशेषिक आचार्यों में शास्त्र की उद्देश, विभाग, लक्षण और परीक्षा—यह चतुर्धा प्रवृत्ति मान्य थी।

उद्देश, लक्षण और परीक्षा की तो ऊपर व्याख्या की गई है। "विभाग" का अर्थ है—प्रकार-भेद-कथन।

यहाँ आवश्यकता के अनुसार लक्षण की और परिष्कृत व्याख्या की जा रही है—

"लक्षणं नाम असाधारणधर्मकथनम्"

किसी वस्तु का असाधारण धर्म, जो अन्य किसी में न पाया जाता हो, वही उस वस्तु का लक्षण अर्थात् पहचान है। लक्षण का दो काम है—लक्ष्य को लक्ष्येतर पदार्थों से पृथक् करना तथा लक्ष्यमात्र (सम्पूर्ण लक्ष्यभूत पदार्थों) को एक श्रेणी के अन्तर्भुक्त करना।

लक्षण को अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव आदि दोषों से मुक्त होना आवश्यक है।

प्रसङ्गवशात् अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है :—

(क) अव्याप्ति

अव्याप्ति का अर्थ है 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्व'। लक्ष्य के किसी एक भाग में न रहना' अथवा 'लक्ष्यतावच्छेदक[1]समानाधिकरणा[2]भावप्रतियोगित्व[3]—लक्ष्यतावच्छेदक के किसी आश्रय में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होना;–जैसे कर्बुरत्व–चितकबरेपन को यदि गौ का लक्षण कहा जाय तो उसमें अव्याप्ति दोष होगा, क्योकि कर्बुरत्व लक्ष्य-भूत गो-समुदाय के एक भाग लाल, काले किसी एक हीं वर्ण के गौ में नहीं रहता या लक्ष्यतावच्छेदकीभूत गोत्व के आश्रय लाल, काले आदि किसी एक ही वर्ण के गौ में कर्बुरत्व का अभाव है और उस अभाव का कर्बुरत्व प्रतियोगी है। इस प्रकार सम्पूर्ण लक्ष्यभूत पदार्थों में लक्षण का नहीं जाना हीं अव्याप्ति है।

(ख) अतिव्याप्ति

अतिव्याप्ति का अर्थ है 'अलक्ष्यवृत्तित्व—लक्ष्य से भिन्न पदार्थं में रहना' अथवा 'लक्ष्यतावच्छेदकाभावसमानाधिकरणत्व'--लक्ष्यतावच्छेदक के अभाव के अधिकरण में रहना। जैसे शृङ्गित्व को यदि गौ का लक्षण किया जाय तो अतिव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि लक्ष्यभूत गौ से भिन्न भैंस आदि के भी सींग होते हैं। अतः लक्षण का लक्ष्य से भिन्न पदार्थों में गमन को हीं अतिव्याप्ति दोष कहा जाता है।

(ग) असम्भव

असम्भव का अर्थं है 'लक्ष्यमात्रावृत्तित्व', अर्थात् किसी भी लक्ष्य में न रहना। अथवा असम्भव का अर्थं है लक्ष्यतावच्छेदक के व्यापक अभाव का प्रतियोगी होना,

---

१. "अवच्छेदक" न्यायदर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। अवच्छेदक का अर्थं है जो सम्पूर्ण पदार्थों को परिच्छिन्न = सीमित करे। किसी पदार्थ में रहनेवाला धर्म हीं अवच्छेदक होता है। जैसे गौ में गोत्वरूप धर्म के रहने के कारण हीं सभी गायों को 'गौ' शब्द से कहा जाता है। घट में रहने वाले घटत्व धर्म के कारण हीं सभी घटों को 'घट' पद से अभिहित किया जाता है। यही गौ में रहनेवाला गोत्व धर्म, घट में रहने वाला घटत्व धर्म अवच्छेदक है। अन्यूनानतिरिक्त-वृत्ति धर्म ही अवच्छेदक होता है। अर्थात् अवच्छेदक धर्म अपने अवच्छेद्य पदार्थों से कम या अधिक स्थल में नहीं रहता। जैसे—गोत्वधर्म से अवच्छिन्न गौ। अवच्छेदक दो होते हैं– धर्म तथा सम्बन्ध। जैसे—"भूतले घटोऽस्ति" इसमें घटत्व धर्म से अवच्छिन्न घट है। संयोग सम्बन्ध से भूतल में घट है। अतः घटत्व धर्म तथा संयोग सम्बन्ध अवच्छेदक है।

२. "समानाधिकरण" का अर्थ है एक अधिकरण में दो पदार्थों का रहना।

३. "प्रतियोगी" तथा "अनुयोगी" ये दोनों न्यायदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। जिसका अभाव होता है, वह प्रतियोगी कहलाता है। जिसमें अभाव होता है वह अनुयोगी कहलाता है। जैसे—"भूतल में घट नहीं है" यहाँ भूतल में घट का अभाव कहा जा रहा है—अतः घट प्रतियोगी तथा भूतल अनुयोगी है।

जैसे—एकशफत्व को यदि गौ का लक्षण किया जाय तो असम्भव दोष होगा, क्योंकि एकशफत्व लक्ष्यभूत किसी भी गौ में नहीं रहता। अतः लक्षतावच्छेदक गोत्व के सभी आश्रयों में एकशफत्व का अभाव रहने से एवञ्च उस अभाव का एकशफत्व के प्रतियोगी होने से एकशफत्व लक्षण असम्भव दोष से दुष्ट है।

इसके अतिरिक्त आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अप्रसिद्धि आदि भी लक्षण के दोष होते हैं। लक्षण को उपर्युक्त दोषों से सर्वथा रहित होना चाहिये।

पदार्थविभाग :

वैशेषिक दर्शन में अतिसूक्ष्म दृष्टि से संसार के अनन्त पदार्थों का उनके साधर्म्य-वैधर्म्य आदि को देखते हुए मात्र सात वर्गों में विभाजन किया गया है। यह आज के वस्तुवादी भारतीय तथा पाश्चात्य दार्शनिक जगत् के प्रति वैशेषिक दर्शन का एक अमूल्य अवदान है। अतः सप्तपदार्थवाद वैशेषिकों का मूल सिद्धान्त है। वैशेषिक के समानतन्त्र माने जाने वाले न्यायदर्शन में यद्यपि प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थ माने गये हैं, तथापि सप्तपदार्थवादी वैशेषिक-सिद्धान्त से उनका कोई विरोध नहीं है। इसलिये मध्यकाल में दोनों सम्प्रदाय के प्रकरण ग्रन्थों में सात पदार्थों का उल्लेख मिलता है।

अन्यान्य दार्शनिक सम्प्रदायों में सात से कम तथा अधिक पदार्थ भी मान्य है। जैसे सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त में पदार्थ के दो हीं प्रकार माने गये हैं। (अद्वैत वेदान्त में मूलतः एक ही है।) भाट्टमीमांसक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य व अभाव—ये पाँच पदार्थ मानते हैं। प्राभाकर द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, सादृश्य व संख्या ये आठ पदार्थ मानते हैं। 'दशपदार्थशास्त्र' में दश पदार्थों का विवेचन है।

परन्तु उक्त दार्शनिक सम्प्रदायों की पदार्थगणना में कुछ न कुछ अपूर्णता अवश्य रह गई है। वैशेषिक दर्शन में जगत् के समस्त पदार्थों का सात वर्गों में वर्गीकरण यथार्थ में ही वैज्ञानिक है। वैशेषिक दर्शन के पदार्थ-विश्लेषण तथा पदार्थ-विभाजन का इतना लोकप्रिय होने का भी यही कारण है।

प्रमाणमञ्जरीकार सर्वदेवसूरि ने भी अपने ग्रन्थ में वैशेषिकसम्मत सात पदार्थों का हीं उपनिबन्ध किया है। किसी भी विषय के दो हीं रूप हो सकते हैं :—भावात्मक अथवा अभावात्मक। अतः हमें पदार्थों का बोध भी भावाभावात्मक रूप से दो हीं प्रकार होता है। इसी को दृष्टि में रखते हुए प्रमाणमञ्जरी में पदार्थों को पहले 'भाव' और 'अभाव'—इस प्रकार दो वर्गों में विभाजित कर पुनः भाव पदार्थों को छः विभागों में विभक्त किया गया है।

प्रमाणमञ्जरी के टीकाकार बलभद्र मिश्र के अनुसार प्रकृत ग्रन्थ में पदार्थों का विशेष विभाग भावाभाव भेद से दो प्रकार का किया गया है। प्रथम भाव-रूप अर्थात् विधिविषयक है। भावत्व का अर्थ करते हुए टीकाकार का कहना है कि जिस ज्ञान का विषय भावत्व-प्रकारक हो। जैसे—'अयं भावः' इस ज्ञान का विषय भावत्व से

२

विशिष्ट भाव है। अतः इस ज्ञान में विशेषण के रूप में भावत्व हीं है। विशेष्य-ज्ञान विशेषणज्ञानाधीन होता है। अतः भावत्व-प्रकारक भाव ही उक्त ज्ञान का विषय हुआ।

अब यह आशंका की जा सकती है कि लोक में यही देखा जाता है कि जिस कार्य में लाघव है, सूचीकटाह[1] न्याय से उसी का पहले सम्पादन किया जाता है और आयासलभ्य कार्यों को बाद में। परन्तु प्रकृत वैशेषिक शास्त्र में अभाव की अपेक्षा भाव के भेद-प्रभेद के अधिक होने पर भी भाव का हीं पहले विभाजन क्यों किया गया है। इसके उत्तर में टीकाकार का कहना है कि अभावज्ञान प्रतियोगिज्ञानसापेक्ष हैं, क्योंकि जब प्रतियोगी ही निश्चित नहीं है तो अभाव किसका हो? प्रतियोगी किसे कहते हैं? "यस्याभावः सः प्रतियोगी"—अर्थात् जिसका अभाव हो वही प्रतियोगी है। जैसे घटाभाव का घट ही प्रतियोगी है। अतः अभाव-ज्ञान के भावरूप-प्रतियोगिज्ञानाधीन होने से अभाव की उपेक्षा कर पहले भाव का विभाजन किया गया है।

द्रव्यलक्षणं तद्विभागश्च

तत्र समवायिकारणं द्रव्यम्। तन्नवधा, पृथिव्यादिभेदेन।

भाषाटीका—उन छः प्रकार के भाव पदार्थों में समवायिकारण द्रव्य है। अर्थात् जितने भी भावात्मक कार्य होते हैं, चाहे वे द्रव्य हों, या गुण या कर्म—सभी का समवायिकारण द्रव्य ही होता है। द्रव्य नौ प्रकार के हैं, पृथिव्यादि भेद से। जैसे—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन।

ब० टी०—कारणत्वं गुणादावतिप्रसक्तमिति तद्वारणाय समवायीति। जातिसमवायित्वं गुणादावपीति कारणत्वमुक्तम्। यद्यपि रूपं यत्किञ्चित्समवायि यत्किञ्चित्कारणञ्च, तथापि स्वसमवेतकारित्वमित्यर्थः। स्वसमवायिकारणत्वयोग्यतात्र विवक्षिता, तेन प्रथमे क्षणे घटादौ नाव्याप्तिः।

विमला—तार्किक चूड़ामणि सर्वदेवसूरि ने कार्यमात्र के समवायिकारण को द्रव्य कहा है।

द्रव्य-लक्षण का पदकृत्य करते हुये टीकाकार कहते हैं—

गुण तथा कर्म भी कार्य के असमवायि तथा निमित्तकारण हैं। द्रव्य भी कभी-कभी निमित्तकारण होता है। जैसे लेखन क्रिया का लेखनी निमित्तकारण हीं है।

---

१. सूचीकटाह-न्याय—किसी लोहार के पास दो व्यक्ति पहुँचे। एक सूई बनवाना चाहता है तो दूसरा कड़ाही। तब लोहार लाघव होने के कारण पहले सूई का निर्माण करता है बाद में कड़ाही। इसे हीं सूचीकटाह-न्याय कहते हैं।

इसी प्रकार सामान्यादि पदार्थ भी निमित्तकारण हो सकते हैं। अतः असमवायि तथा निमित्तकारणरूप गुणादि में अतिव्याप्ति के निरास के लिये द्रव्य-लक्षण में 'समवायि' पद सन्निविष्ट है।

सत्ता, गुणत्व तथा रूपत्व आदि सामान्य भी रूपादि गुणों में समवेत (समवाय सम्बन्ध से आश्रित) हैं। इस प्रकार गुणादि भी समवायी हुये। अतः द्रव्य-लक्षण में 'कारणं' पद रखा गया है। चूँकि गुण तथा कर्म समवायी होने पर भी (सामान्यादि पदार्थों के नित्य होने से) समवाय सम्बन्ध से पदार्थ को उत्पन्न नहीं करते अतः गुणादि किसी के समवायिकारण नहीं हैं।

यदि 'समवायिकारणम्' इस पद में द्वन्द्व समास किया जाय, जैसे 'समवायि च तत्कारणं च = समवायिकारणम्' तो 'समवायि' तथा 'कारण' को दो पृथक् पद मानने पर रूपादि में पुनः अतिव्याप्ति होती है। कारण रूपादि गुण गुणत्व-रूपत्व आदि सामान्य के समवायी भी हैं, क्योंकि गुणत्व, रूपत्व आदि जातियाँ रूपादि में समवाय सम्बन्ध से रहती हैं तथा रूपादि किसी के कारण भी हैं, जैसे कपाल का रूप घट-रूप का (असमवायि) कारण है। इसी प्रकार "इदं नीलं रूपम्" इस नील रूप का जो प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है उस ज्ञान का निमित्तकारण भी नील रूप हीं है। इस प्रकार नील रूपादि (असमवायि तथा निमित्त) कारण हुये। अतः रूपादि के किसी के समवायी तथा अन्य किसी के कारण होने से उपर्युक्त लक्षण में द्वन्द्व समास करने पर रूपादि में लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। एवञ्च उक्त लक्षण का षष्ठीतत्पुरुष समास 'समवायिनः कारणम् समवायिकारणम्' करने पर भी गुणादि में अतिव्याप्ति होतो, क्यों कि गुणादि पूर्वोक्त रीति से रूपत्वादि के समवायी तथा रूपादि के कारण भी हुये। जैसे घटरूप का कपालरूप असमवायि कारण है। अतः समवायी रूप का असमवायिकारण रूपादि ही हैं। इसप्रकार गुणादि में द्रव्य-लक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है।

इसी अतिव्याप्ति को ध्यान में रखते हुये बलभद्रमिश्र ने समवायि कारण का अर्थ—'स्वसमवेतकारित्वम्' किया है। अर्थात् अपने में समवाय सम्बन्ध से समवेत पदार्थ को उत्पन्न करनेवाला, जैसे स्व अर्थात् कपाल, उसमें समवेत—समवाय सम्बन्ध से आश्रित घट की उत्पत्ति होती है। अतः कपाल घट का समवायिकारण है। कपाल-रूप कपाल में समवाय सम्बन्ध से रहता है। कपाल-रूप को कपाल उत्पन्न भी करता है। अतः कपाल-रूप का कपाल समवायिकारण है।

इसके विपरीत रूपादि में रूपत्व आदि जाति के समवायसम्बन्ध से रहने पर भी रूप रूपत्व को उत्पन्न नहीं करता, अतः अतिव्याप्ति निरस्त है। प्रकृत में स्वसमवेतकारित्व का अर्थ स्वसमवायिकारणत्वयोग्यता समझनी चाहिये, अर्थात् अपने में समवायसम्बन्ध से रहनेवाले पदार्थों को उत्पन्न करने की योग्यता। अतः 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' इस सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि घटात्मक द्रव्य उत्पत्ति के प्रथम क्षण में निर्गुण तथा निष्क्रिय होता है, तथापि उस समय भी उसमें गुणादि को उत्पन्न करने की योग्यता तो रहती है, जिससे द्वितीय क्षण में वह रूपादि

को उत्पन्न करता है। इस प्रकार समवायिकारण का अर्थ समवायिकारणत्वयोग्यता करने पर प्रथम क्षण में घटादि में अव्याप्ति नहीं होती।

पृथिवीलक्षणं तद्विभागश्च

तत्र गन्धवती पृथिवी। सा द्वेधा नित्यानित्यभेदेन।

भाषाटीका—'तत्र' अर्थात् उद्देश किये गये उन नौ द्रव्यों में पृथिवी गन्ध-विशिष्ट द्रव्य है। वह दो प्रकार की है 'नित्यानित्य' भेद से।

ब० टी०—गन्धवतीति। यद्यपि प्रथमे क्षणे गन्धो नास्तीत्यव्याप्तिः, तथापि गन्धात्यन्ताभावविरोधिमत्त्वं विवक्षितम्। स च विरोधी गन्ध-तत्प्रागभावतत्प्रध्वंसरूपः। तदन्यतमत्वं[1] च न गन्धात्यन्ताभाव इति नाव्याप्तिः।

विमला—टीकाकार बलभद्रमिश्र ने पृथिवी के गन्धवत्त्व लक्षण का परिष्कार करते हुये कहा है कि यद्यपि उत्पत्ति के प्रथम क्षण में पार्थिव पदार्थ में गन्धाभाव है—इस प्रकार आपाततः लक्षण की अव्याप्ति दिखाई पड़ती है, तथापि गन्धवत्त्व का उदयनाचार्य के समान गन्धात्यन्ताभाव का विरोधित्व अर्थ करना चाहिए। गन्धात्यन्ताभाव के विरोधी गन्ध, गन्ध का प्रागभाव तथा गन्ध का प्रध्वंसाभाव हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ गन्ध है वहाँ उसका अत्यन्ताभाव सम्भव नहीं है, अतः गन्ध, गन्धात्यन्ताभाव का विरोधी है। इसी प्रकार जहाँ गन्ध का प्रागभाव अर्थात् 'इह गन्धः उत्पत्स्यते—भविष्य में यहाँ गन्ध की उत्पत्ति होगी' इत्याकारक बोध हो, वहाँ इस प्रकार की प्रतीति से अग्रिमक्षण में गन्ध का होना ही सिद्ध होता है। गन्ध के प्रध्वंसाभाव से भी अतीतकाल में गन्ध की सत्ता थी—जो अब विनष्ट है—ऐसा बोध होता है। इस प्रकार गन्ध, गन्ध-प्रागभाव तथा गन्ध-प्रध्वंसाभाव गन्धात्यन्ताभाव के विरोधी हुये। यतः अत्यन्ताभाव का अर्थ है त्रैकालिकाभाव अतः जिन द्रव्यों में गन्ध विद्यमान है, अथवा अभ गन्ध की उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु गन्ध उत्पन्न होने की सम्भावना है, व गन्ध की सत्ता थी, अब नष्ट हो चुकी है, वे सभी पार्थिव द्रव्य हैं। पार्थिव द्रव्य में उसकी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में भी गन्ध उत्पन्न होने की योग्यता तो है ही। अतः लक्षण की अव्याप्ति नहीं हुई, क्योंकि गन्ध या गन्ध-प्रागभाव अथवा गन्ध-प्रध्वंसाभाव में से कोई भी गन्धात्यन्ताभाव नहीं है।

इस प्रकार उक्त अव्याप्ति का निरास हुआ।

---

१. अन्यतमत्व का अर्थ है—अनेक में से एक।

ब० टी०—यद्वा गन्धात्यन्ताभावानधिकरणमेव लक्षणम्। न च गन्धात्यन्ताभावेऽतिव्याप्तिः, गन्धात्यन्ताभावे गन्धो नास्तीति प्रतीतिबलेन गन्धात्यन्ताभावे गन्धात्यन्ताभावस्य सत्त्वात्। अन्यथा तत्र गन्धतत्प्रागभावादिर्वर्तेत। यत्र यदत्यन्ताभावो नास्ति तत्र तद्विरोध्यस्ति इत्यस्तिव्याप्तिः। स च गन्धात्यन्ताभावे गन्धात्यन्ताभावोऽधिकरणस्वरूपो वा, वैधर्म्यं वा अभावान्तरमेव वा इत्यन्यदेतदिति दिक्। यद्यपि सुरभ्यसुरभिकपालारब्धे घटे गन्धतत्प्रागभावतत्प्रध्वंसा न सन्ति, तथापि गन्धयोग्यता विवक्षिता, सा च पृथिवीत्वमेव।

विमला—यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि गन्धात्यन्ताभाव के विरोधी गन्धप्रागभावादि नहीं हैं, क्योंकि प्रागभावादि भी अभाव के हीं प्रकारभेद हैं, तो इसके उत्तर में टीकाकार का कहना है कि गन्धात्यन्ताभाव का अनधिकरण, अर्थात् गन्धात्यन्ताभाव का अधिकरण न होना, हीं उपर्युक्त पृथिवीलक्षण का अर्थ है।

अब प्रश्न हो सकता है कि अभाव का सम्बन्ध सर्वदा दो वस्तुओं से होता है—प्रतियोगी तथा अनुयोगी। एवञ्च अभाव का अधिकरण कोई भावपदार्थ हीं होता है तथा वह सानुयोगिक हीं होता है। जैसे पुस्तकाभाव का अधिकरण पुस्तक नहीं, अपितु टेबुल हीं होता है। अतः गन्धात्यन्ताभाव का अधिकरण गन्ध या गन्धात्यन्ताभाव नहीं होगा। अतः गन्धात्यन्ताभाव भी गन्धात्यन्ताभाव का अनधिकरण है। इस प्रकार गन्धात्यन्ताभाव में आपाततः लक्षण को अतिव्याप्ति दिखाई पड़ती है। परन्तु विचार करने पर यह अतिव्याप्ति भ्रान्त प्रतीत होती है, कारण गन्धात्यन्ताभाव की अभिव्यक्ति होती है—'गन्धो नास्ति'। इस 'नास्ति' पद से गन्धात्यन्ताभाव की हीं प्रतीति होती है। अतः गन्धात्यन्ताभाव गन्धात्यन्ताभाव का अधिकरण हीं है, अनधिकरण नहीं। अन्यथा गन्धात्यन्ताभाव में भी गन्ध, गन्ध-प्रागभावादि रहेंगे, क्योंकि जहाँ गन्धात्यन्ताभाव नहीं है, वहाँ उसके विरोधी गन्धप्रागभावादि हीं होंगे। इस प्रकार अतिव्याप्ति होती। किन्तु गन्धात्यन्ताभाव के गन्धात्यन्ताभाव का अधिकरण होने से अतिव्याप्ति रुक गई।

यह विचारणीय है कि उपर्युक्त गन्धात्यन्ताभाव में जो गन्धात्यन्ताभाव है वह क्या अधिकरणस्वरूप है? या अधिकरण से भिन्न है? अथवा अभाव का हीं कोई अवान्तरभेद है? इस विषय में टीकाकार के अनुसार वैशेषिकों का कुछ अधिक आग्रह नहीं है। अभाव स्वीकरणीय है—इतना तो सुस्पष्ट हीं है।

यद्यपि सुरभियुक्त तथा असुरभियुक्त दो कपालों से आरब्ध घट में गन्ध, उसका प्रागभाव तथा उसका प्रध्वंसाभाव नहीं माना जा सकता, कारण वैसा मानने पर सुरभि तथा असुरभि से उत्पन्न एक तृतीय कोटि की गन्ध माननी पड़ेगी। अतः इस प्रसंग में सुरभि तथा असुरभि को कपाल तक हीं सीमित माना गया है तथापि उसमें

गन्धयोग्यता तो है हीं। अतः पृथिवी में कोई ऐसा पदार्थ है, जिसके फलस्वरूप पृथिवी में गन्ध, गन्ध का प्रागभाव तथा गन्ध का प्रध्वंसाभाव विद्यमान है। अर्थात् भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान तीनों कालों में गन्ध की योग्यता पृथिवी में बनी रहती। वह योग्यता हीं पृथिवीत्व है। यह ज्ञातव्य है कि पार्थिव-परमाणु में भी गन्ध विद्यमान है। अतः नित्य द्रव्य में गुण रहने का अर्थ यही है कि वह कभी कार्य द्रव्य में भी अभिव्यक्त होगा। अतः गन्धयोग्यता हीं पृथिवीत्व है।

परमाणुलक्षणम्

पूर्वा परमाणुरूपा। क्रियावान्नित्यः परमाणुरिति सामान्यलक्षणम्।

भाषाटीका—पृथिवी के जो दो भेद किये गये हैं—नित्य तथा अनित्य रूप से, उनमें से प्रथम जो नित्यपृथिवी, वह परमाणुरूपा है। परमाणु नित्य तथा क्रियावान् है। यही परमाणु का सामान्य लक्षण है।

ब० टी०—नित्य इति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय क्रियावानिति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय नित्य इति। मनोऽपि परमाणुरिति नातिव्याप्तिः। यदि मनोव्यावृत्तपरमाणोर्लक्षणम्, तदा द्रव्यारम्भप्रयोजिका क्रिया विवक्षितेति नातिव्याप्तिः।

विमला—वैशेषिकों ने द्रव्य को दो भागों में विभाजित किया है (१) नित्य परमाणु तथा (२) अनित्य कार्यद्रव्य द्व्यणुकादि। परमाणुओं द्वारा केवल अनित्य और विनाशशील द्रव्यों की रचना और बाद में उनका विनाश होता है। आकाश-काल-दिक्-मन और आत्मा जैसे नित्य द्रव्यों की न उत्पत्ति होती है और न विनाश।

परमाणुवाद न्याय-वैशेषिकों का एक विशेष सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की रचना परमाणुओं द्वारा हुई है। अतः वैशेषिक के विश्व-रचना-सम्बन्धी सिद्धान्त को 'परमाणुवाद' या 'परमाणुकारणवाद' कहा जाता है। परमाणु-स्वरूप उपादान कारणात्मक द्रव्य में असत् अर्थात् उत्पत्ति के पहले अविद्यमान-अवयवी-द्रव्य की उत्पत्ति हीं "आरम्भ" नाम से कथित होने से उक्त मत "आरम्भवाद" या "असत्कार्यवाद" नाम से भी प्रसिद्ध है।

'परमाणु' शब्द में दो पद हैं—परम + अणु = परमाणु। अतः परमाणु शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—परमत्व से युक्त अणु अर्थात् जिससे छोटा और नहीं है।

प्रमाणमञ्जरीकार ने परमाणु का लक्षण करते हुये कहा है—क्रियावान् तथा नित्य द्रव्य हीं परमाणु है।

परमाणु-लक्षण में आकाशादि में अतिव्याप्ति के निषेध के लिये 'क्रियावान्' पद दिया गया है। कारण आकाश से मन तक सभी द्रव्य नित्य हैं। परमाणु के भी नित्य होने से आकाशादि नित्य द्रव्यों में परमाणु लक्षण अतिव्याप्त होता, किन्तु आकाश से आत्मा तक सभी निष्क्रिय द्रव्य हैं अतः 'क्रियावान्' पद से उक्त अतिव्याप्ति वारित होती है।

मन में भी परमाणु-लक्षण अतिव्याप्त नहीं है, क्योंकि 'क्रिया' का प्रकृतोपयोगी अर्थ है द्रव्यारम्भक क्रिया। मन में यह क्रिया नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं होती। तात्पर्य यह है कि यद्यपि मन क्रियावान् है तथापि द्रव्यारम्भ-प्रयोजिका क्रिया से युक्त नहीं है। अतः क्रियावान् होने पर भी मन से द्रव्यों की उत्पत्ति नहीं होती। आत्म-मनः-संयोग से ज्ञानादि गुणों की उत्पत्ति तो होती है, किन्तु किसी द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती (अर्थात् मन किसी का समवायिकारण नहीं होता) अतः जो नित्य तथा द्रव्यारम्भक क्रिया से युक्त हो ऐसा द्रव्य एकमात्र परमाणु है। इस प्रकार मन में परमाणु-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

यद्यपि द्व्यणुक का परिमाण भी अणु है तथापि द्व्यणुक भी परमाणु के कार्य होने से अनित्य ही है। इस प्रकार द्व्यणुक से घटादि पर्यन्त सभी महत्परिमाणसम्पन्न कार्य द्रव्य अनित्य होते हुये क्रियावान् अवश्य हैं। अतः घटादि से व्यवच्छेद के लिये परमाणु-लक्षण में 'नित्य' पद भी निर्दिष्ट है।

कुछ लोगों का कहना है कि मन क्रियावान् तथा नित्य है। एवञ्च मन का परिमाण भी अणु है। अतः मन को लक्ष्यभूत परमाणु से व्यवच्छिन्न करना उचित नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त परमाणु-लक्षण अतिव्याप्ति आदि सम्भावित दोषों से दूषित नहीं रहा।

परन्तु सिद्धान्ती का उपर्युक्त पूर्वपक्ष के विरोध में यही कहना है कि मन को परमाणु मानने पर द्रव्य की नवत्व संख्या के उच्छेद की सम्भावना है तथा मन-परमाणु को पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय में से किस परमाणु के अन्तर्गत समाविष्ट किया जाय—यह समस्या उत्पन्न होती है। इन्हीं सब विवादों को देखते हुये मन को पृथक् रूप में स्वीकार करते हुये हीं परमाणु का लक्षण करना इष्ट है। आगे मनः-प्रकरण में मन का इस प्रकार लक्षण किया गया है—'मूर्तत्वे सति सदा स्पर्शशून्यं मन इति।' मूर्तत्व का अर्थ है—"क्रियावत्त्वं मूर्त्तत्वम्, अपकृष्टपरिमाणवत्त्वं वा मूर्त्तत्वम्", अर्थात् जो क्रियावान् तथा अल्पपरिमाण वाला हो, वह मूर्त्त है। (पृथिवी-जल-तेज-वायु तथा मन—ये हीं पाँच द्रव्य मूर्त्त हैं।) यहाँ तक तो लक्षणार्थ परमाणु तथा मन दोनों में समान रूप से घटित है। परन्तु आगे मन के लक्षण में दिये गये "स्पर्शशून्यं" पद से हीं परमाणु से मन का व्यवच्छेद हो जाता है, क्योंकि पार्थिवादि चतुर्विध परमाणुओं में से एक भी स्पर्शशून्य नहीं है, अर्थात् चारों में स्पर्शगुण विद्यमान है। पाकावस्था में पहले के रूप, रस, स्पर्श आदि के विनाश-क्षण तथा बाद के रूप, रस,

स्पर्श आदि की उत्पत्ति के क्षण के बीच एक क्षण तक पार्थिव परमाणु भी स्पर्श आदि गुणों से रहित रहते हैं। अतः उनमें अतिव्याप्ति के वारण के लिये मनोलक्षण में 'सदा स्पर्शशून्यं' पद सन्निविष्ट है। अर्थात् मन सर्वदा स्पर्शशून्य है, जब कि पार्थिव परमाणु एक क्षण के लिये ही स्पर्श शून्य होता।

अतः मन को लक्ष्यभूत परमाणु से व्यवच्छिन्न कर हीं परमाणु का लक्षण करना उचित है और 'द्रव्यारम्भप्रयोजकक्रियावत्' पद से हीं मन में परमाणु-लक्षण की अतिव्याप्ति निरस्त होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रमाणमञ्जरी का परमाणु-लक्षण सर्वथा दोष-रहित है।

पृथिवीपरमाणुलक्षणम्

परमाणुर्गन्धवान् पार्थिवः। उत्तरा द्वेधा—नित्यसमवेता, अन्यथा चेति।

भाषाटीका—गन्धयुक्त परमाणु, पार्थिव परमाणु है। दूसरी जो अनित्य पृथिवी है वह दो प्रकार की है—(१) प्रथम नित्यपरमाणु में समवायसम्बन्ध से रहनेवाली द्वयणुकरूप तथा (२) दूसरी अनित्यद्रव्यों में समवायसम्बन्ध से रहने वाली त्र्यणुक से लेकर सभी महत्परिमाणविशिष्टद्रव्यरूप पृथिवी है।

ब० टी०—पृथिवीपरमाणुलक्षणमाह—गन्धवानिति। जलादिपरमाण्वादावतिव्याप्तिवारणाय गन्धवानित्युक्तम्। घटादावतिव्याप्तिवारणाय परमाणुरिति। द्वचणुकेऽतिव्याप्तिवारणाय परमेति। द्वचणुकमपि यत्किञ्चिदपेक्षया परमं भवति, इत्यतिव्याप्तिवारणायाणुत्वमुक्तम्। उत्तरेति। अनित्येत्यर्थः। अन्यथेति। अनित्यसमवेतेत्यर्थः, न तु नित्या समवेतेति तदर्थः। अन्यथा अनित्यपृथिवीविभागे परमाणोरपि सङ्ग्रहापत्तिः।

विमला—परमाणु चार प्रकार के हैं, जिनका संयुक्त रूप पृथिवी, जल, तेज और वायु है। प्रमाणमञ्जरीकार ने अपने ग्रन्थ में पहले परमाणुसामान्य-लक्षण का उपनिबन्ध कर प्रसङ्गप्राप्त पृथिवी-परमाणु का विशेष लक्षण करते हुये कहा है—गन्धविशिष्ट परमाणु ही पार्थिव परमाणु है।

उक्त लक्षण की जलीय, तैजसादि परमाणुओं में अतिव्याप्ति के निषेध के लिये लक्षण में 'गन्धवान्' पद सन्निविष्ट है। मात्र पृथिवी में ही गन्ध है। जल, तेज, वायु आदि में गन्ध नहीं है। यद्यपि घटादि के भी गन्धवान् होने से उनमें पार्थिव-परमाणु-लक्षण की अतिव्याप्ति होती, तथापि घटादि के परमाणु-स्वरूप न होने से लक्षण में

"परमाणु" पद के दे देने पर घटादि में पार्थिव-परमाणु-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।

द्व्यणुक का परिमाण भी अणु होने से पार्थिवद्व्यणुक में अतिव्याप्ति के निषेध के लिये लक्षण में 'परम' पद सन्निविष्ट है। अतः द्व्यणुक परमाणु नहीं है।

'परम' आदि पद भी सापेक्ष हीं हैं, क्योंकि द्व्यणुक भी घटादि की दृष्टि से सूक्ष्म होने से परम अणु है। परन्तु द्व्यणुक में अणु परिमाण का उत्कर्ष होने पर भी चरमोत्कर्ष नहीं है, क्योंकि द्व्यणुक परमाणु नहीं है। अतः लक्षण में 'अणु' पद प्रविष्ट है। परम अणु अर्थात् "अतिसूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ" केवल परमाणु है। इस प्रकार 'परमाणु' पद व्यर्थ नहीं है।

पृथिवी के दूसरे भेद का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है—'उत्तरा द्वेधा नित्यसमवेता अन्यथा च'। इसमें 'उत्तरा द्वेधा' पद का अर्थ है—पृथिवी के नित्य तथा अनित्य भेदों में द्वितीय जो अनित्य पृथिवी है, उसके पुनः दो भेद हैं—(१)एक तो नित्य परमाणु में समवेत (समवाय सम्बन्ध से) रहता है यथा द्व्यणुक। इससे भिन्न (२) त्र्यणुक, चतुरणुक आदि से घटादि पर्यन्त सभी द्रव्य अनित्य-समवेत हैं। जैसे त्र्यणुक अनित्य द्व्यणुक में समवेत है, चतुरणुक अनित्य त्र्यणुक में समवेत हैं। इसी प्रकार द्व्यणुक से भिन्न सभी त्र्यणुक आदि अनित्य द्रव्यों में समवेत हैं। नित्य समवेत से भिन्न—'अन्यथा' का अर्थ नित्य में असमवेत नहीं करना चाहिये। तब तो परमाणु भी अनित्य-पृथिवी-कोटि में समाविष्ट होंगे, कारण परमाणु भी किसी नित्य द्रव्य में समवेत नहीं रहते। अतः 'अन्यथा' पद का अनित्य-समवेत अर्थ इष्ट है।

द्व्यणुकलक्षणम्

पूर्वा द्व्यणुकम्। स्पर्शवन्नित्यसमवेतं द्व्यणुकमिति सामान्य-लक्षणम्।

भाषाटीका—पूर्वा अर्थात् अनित्य पृथिवी के जो दो भेद किये गये थे नित्य-समवेत तथा अनित्यसमवेत रूप से, उनमें से प्रथम जो नित्यसमवेत है, वह द्व्यणुक है। जो स्पर्शयुक्त हो तथा नित्यपरमाणुओं में समवाय सम्बन्ध से (समवेत) आश्रित हो वही द्व्यणुक है। यही द्व्यणुक का सामान्य लक्षण है।

ब० टी०—पूर्वा नित्यसमवेता। क्रियावदिति[1]। शब्दादावतिव्याप्ति-वारणाय क्रियावदिति। घटादौ तद्दोषभङ्गाय नित्यसमवेतमिति। नित्य-

---

१. मूल से भिन्न पाठ प्रतीत होता है। या तो टीकाकार के समय पाठभेद रहा होगा।

कालादिसम्बद्धं घटादि भवत्येवेति पुनरप्यतिव्याप्तिं भञ्जयितुं नित्यसमवेतमिति निजगदे । न च निष्क्रियनष्टद्व्यणुकेऽव्याप्तिः, क्रियावन्नित्यसमवेतवृत्तिद्रव्यविभाजकोपाधिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् ।

विमला—न्याय-वैशेषिकों के अनुसार स्थूल द्रव्यों की उत्पत्ति सीधे परमाणु से नहीं हो सकती, कारण वैसी स्थिति में परमाणु और स्थूलद्रव्य के बीच कोई और खंड द्रव्य न होने से जब स्थूल द्रव्यों का भङ्ग होगा तब उसके समस्त परमाणु बिखर जायेंगे, फलतः स्थूल द्रव्यों के टूटने पर जो उनके टुकड़ों की उपलब्धि होती, वह न हो सकेगी। अतः इन टुकड़ों की उपलब्धि से यह मानना आवश्यक है कि स्थूल द्रव्यों की उत्पत्ति सीधे परमाणुओं से न होकर अवान्तर खण्ड द्रव्यों के द्वारा होती है।

यह भी स्मरणीय है कि किसी एक परमाणु द्वारा कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इससे सभी समय कार्योत्पत्ति की आपत्ति होगी, कारण उसे दूसरे की अपेक्षा नहीं है। यदि एक हीं नित्य वस्तु से कार्य की उत्पत्ति मानें तो कार्य का विनाश असम्भव होगा, क्योंकि कार्यों का नाश दो हीं तरह से संभव है, एक तो आश्रय के नाश से (समवायिकारण के नाश से) दूसरे अवयवों के विभाग से (फलतः असमवायिकारण के नाश से)। ये दोनों हीं प्रकार एक नित्य वस्तु से कार्य की उत्पत्ति मान लेने पर असम्भव है। तीन परमाणु भी मिलकर कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकते, क्योंकि तीन परमाणुओं से जो बनेगा वह अवश्य ही महान् बनेगा। महत्परिमाणसम्पन्न कार्यद्रव्य का यह स्वभाव सर्वत्र देखा जाता है कि उसकी उत्पत्ति उसके परिमाण से न्यून परिमाण वाले कार्यद्रव्यों से होती है, जैसे महत्परिमाणसम्पन्न कार्यद्रव्य घट की उत्पत्ति उसके परिमाण से न्यून परिमाण वाले कार्यद्रव्य कपाल से होती है। अतः त्र्यणुक भी महत्परिमाणसम्पन्न होने से कार्यद्रव्य से हीं उत्पन्न होगा। इसप्रकार एक परमाणु तथा तीन परमाणुओं से कार्य की उत्पत्ति खंडित हो जाने पर यह सिद्ध होता है कि दो परमाणुओं से हीं कार्य की उत्पत्ति होती है एवं उन दो परमाणुओं के कार्य का नाम द्व्यणुक है।

त्र्यणुक की उत्पत्ति तीन द्व्यणुकों से होती है, एक द्व्यणुक या दो द्व्यणुकों से नहीं। एक द्व्यणुक से त्र्यणुक की उत्पत्ति इसलिए नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इसमें अवयवसंयोगरूप असमवायिकारण नहीं बन पाता। इसी प्रकार दो द्व्यणुकों से भी त्र्यणुक की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि तब त्र्यणुक में महत्परिमाण की उत्पत्ति न हो सकेगी। कारण महत्परिमाण की उत्पत्ति मुख्य रूप से दो हीं कारणों से होती है, अवयव के महत्परिमाण से और अवयवों की बहुत्व संख्या से (और क्वचित् अवयवों के शिथिल संयोग से)। द्व्यणुक में अणु परिमाण होने से दो द्व्यणुकों से नहीं, अपितु तीन द्व्यणुकों की बहुत्व संख्या से त्र्यणुक में महत्परिमाण की उत्पत्ति होने से तीन द्व्यणुकों से हीं त्र्यणुक की उत्पत्ति मानी गई है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि अतिसूक्ष्म नित्य दो परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति तथा तीन द्व्यणुओं से त्र्यणुक की उत्पत्ति के क्रम से क्रमशः महद् द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। अतः सृष्टि-क्रम में परमाणु तथा महद्द्रव्य के बीच द्व्यणुक अवश्य स्वीकरणीय है।

अतएव प्रमाणमञ्जरीकार ने परमाणु के सामान्य तथा विशेष लक्षण को उपस्थापित कर पुनः द्व्यणुक का सामान्य लक्षण करते हुये कहा है—जो स्पर्शयुक्त हो तथा नित्यपरमाणुओं में समवायसम्बन्ध से रहता हो वही द्व्यणुक है।

टीकाकार बलभद्रमिश्र के अनुसार प्रमाणमञ्जरी के उपर्युक्त द्व्यणुक-लक्षण में 'स्पर्शवत्' या 'क्रियावत्' पद नित्य आकाशादि में समवेत शब्दादि में अतिप्रसक्ति के निवारणार्थ उपनिबद्ध है यतः स्पर्श गुण या क्रिया केवल द्रव्यों में रहतो है। घटादि भी स्पर्श-विशिष्ट तथा क्रियावान् द्रव्य एवं अनित्य कपालादि में समवेत हैं। अतः द्व्यणुक-लक्षण में 'नित्यसमवेत' पद रखा गया है।

नित्य कालादि के साथ घटादि का कालिक तथा दैशिक सम्बन्ध है हीं, कारण इस काल में, इस देश में घट है—ऐसी प्रतीति होती है। अतः केवल 'नित्यसम्बद्ध' कहने पर घटादि का नित्य कालादि के साथ सम्बन्ध होने से उक्त द्व्यणुकलक्षण का अतिप्रसंग होता। अतः लक्षण में 'नित्यसमवेत' पद रखा गया है। नित्यकालादि के साथ घटादि संयोग सम्बन्ध से हीं सम्बद्ध है। केवल द्व्यणुक हीं नित्य परमाणु में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है। जो द्व्यणुक उत्पत्ति के तृतीय क्षण में क्रिया-गुणादि को उत्पन्न किये बिना हीं विनष्ट हो जाते हैं उनमें अव्याप्ति की संभावना भी नहीं है, कारण जातिघटित या उपाधिघटित लक्षण कर देने पर उक्त लक्षण की संगति हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि नित्य परमाणुओं में समवायसम्बन्ध से रहनेवाले कुछ द्व्यणुक तो क्रियावान् हैं हीं। अतः क्रियावान् नित्य-समवेत द्व्यणुक में रहनेवाली द्रव्यविभाजकोपाधि पृथिवीत्व से तो वे द्व्यणुक भी युक्त हैं, जो तृतीयक्षण में गुण तथा क्रिया की उत्पत्ति किये बिना हीं विनष्ट हो जाते हैं, क्योंकि उन द्व्यणुकों में भी पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियाँ विद्यमान हैं।

ब० टी०—यत्तु निष्क्रियद्व्यणुकमेव न सम्भवति, अन्यथा तेन द्व्यणुकेन समं गगनादेस्संयोगाभावापत्त्या सर्वभूतसंयोगित्वलक्षणविभुत्वानापत्तेरिति, तन्न; संयोगजसंयोगेन विभुत्वोपपत्तेः। न च क्रियावदिति व्यर्थम्, तस्यादेयत्वात्। न च शब्दादावतिव्याप्तिः, परमाणुसमवेतद्रव्यमात्रस्य विवक्षितत्वात्।

विमला—पूर्वपक्षी 'क्रियावत्' या 'स्पर्शवत्' पद को लक्षण में व्यर्थ सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि निष्क्रिय या स्पर्शरहित द्व्यणुक हो हीं नहीं सकते। अतः जब सभी द्व्यणुक स्पर्शयुक्त व सक्रिय हैं तब उनका 'स्पर्शवान्' या 'क्रियावान्' विशेषण उसी

प्रकार व्यर्थ है जैसा कि कोई कहे मोठी चीनी। विशेषण उसे कहते हैं जो विशेष्य में सम्भव हो तथा व्यभिचारी भी हो। जैसा कि 'नोलो घटः' यहाँ नीलरूपवत्त्व विशेषण नीलघट में सम्भावित भी है तथा श्वेतघटादि में न पाये जाने के कारण व्यभिचारी भी हैं। परन्तु सभी द्व्यणुकों के क्रियावान् तथा स्पर्शवान् होने से 'क्रियावान्' या 'स्पर्शवान्' विशेषण व्यर्थ है। यदि द्व्यणुक को निष्क्रिय माना जाय तो उस निष्क्रिय द्व्यणुक के साथ आकाश का संयोगसम्बन्ध न होने पर जो 'सर्वमूर्त्त-संयोगित्व' स्वरूप विभुत्व आकाश का स्वभाव है उसकी असंगति होने से आकाश की विभुता में आपत्ति होगी।

आशय यह है कि विभुत्व का लक्षण है 'सर्वमूर्तसंयोगित्वम्'। मूर्तत्व अर्थात् स्वल्पपरिमाणवत्त्व। स्वल्प या अपकृष्ट परिमाण का अर्थ है—अणु तथा महत्परिमाण। नौ द्रव्यों में—पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन – ये पाँच हीं द्रव्य अणु तथा महत्परिमाणवाले हैं। आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा—ये चार परममहत्परिमाणविशिष्ट होने से अमूर्त द्रव्य हैं। इन चार द्रव्यों का मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयोग हीं इनकी विभुता है। संयोग तीन प्रकार के होते हैं—अन्यतरकर्मज, उभयकर्मज तथा संयोगज। अब आकाशादि द्रव्य तो (मन के अतिरिक्त) निष्क्रिय हैं। अतः निष्क्रिय नित्य आकाशादि का मूर्त द्रव्य के साथ संयोग में मूर्त द्रव्यों का ही सक्रिय होना अनिवार्य है। अतः द्व्यणुक को निष्क्रिय मानने पर आकाश का मूर्त्त द्व्यणुक के साथ संयोग सम्भव न होने से द्व्यणुक को सक्रिय मानना अनिवार्य है। अतः 'क्रियावान्' पद व्यर्थ है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि यद्यपि हम भो द्व्यणुक को सक्रिय मानते हैं, तथापि आप के सक्रियत्व के हेतु को नहीं मानते, कारण द्व्यणुक के निष्क्रिय होने पर भी उसके साथ आकाश का संयोगज संयोग हो हीं सकता है। जो निष्क्रिय द्व्यणुक किसी स्थान में पड़ा है उस स्थान के आकाश के साथ तो उस निष्क्रिय द्व्यणुक का संयोग है हीं। इसका अर्थ यही है कि वह द्व्यणुक कभी सक्रिय था, कारण आकाश निष्क्रिय है तथा संयोग भी क्रियाजन्य हीं होता है। यदि द्व्यणुक को सदा के लिए निष्क्रिय माना जाय तो उस निष्क्रिय द्व्यणुक के आकाश के साथ संयोग को या तो एक विलक्षण संयोग माना जाय या तो उस आकाश को हीं एक विलक्षण आकाश मानना पड़ेगा जो दस, पच्चीस या पचास वर्ष पहले कभी न कभी सक्रिय था, परन्तु इनमें से कोई भी युक्ति सम्भव नहीं है। अतः यदि किसी द्व्यणुक को निष्क्रिय माना भी जाय तो सभी द्व्यणुक के निष्क्रिय न होने से, यदि 'क' द्व्यणुक निष्क्रिय हैं तो भी 'ख' द्वयणुक के सक्रिय होने से दो द्वयणुकों में परस्पर संयोग होना सम्भव है। एवञ्च सक्रिय 'ख' द्वयणुक का आकाश के साथ भी संयोग हो जाता है। निष्क्रिय 'क' द्वयणुक सक्रिय 'ख' द्वयणुक के साथ संयुक्त है। इस प्रकार परम्परया निष्क्रिय 'क' द्वयणुक का भी आकाश के साथ संयोगज संयोग हो जाता है। अतः संयोगज संयोग से निष्क्रिय द्वयणुक का आकाश के साथ संयोग हो जाने से आकाश की विभुता की उपपत्ति हो जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी द्व्यणुकों के सक्रिय होने में कोई युक्ति नहीं है।

"क्रियावत्" पद भी व्यर्थ नहीं है। कारण जैसा कि पहले भी कहा गया है कि "क्रियावत्" पद से नित्य आकाश में समवेत शब्द में द्व्यणुक-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। 'नित्य' पद का अर्थ परमाणु करने पर नित्य परमाणु में समवेत द्रव्य द्व्यणुक हीं होता है जब कि शब्द द्रव्य नहीं, गुण है तथा वह नित्य आकाश में समवेत है।

समास की दृष्टि से 'नित्यसमवेत' पद के कई अर्थ हो सकते हैं। जैसे द्वन्द्व समास के अनुसार 'नित्यञ्च समवेतञ्च नित्यसमवेतम्' अर्थात् जो नित्य हो और समवेत भी हो— ऐसे पदार्थ सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व, पटत्व आदि सभी सामान्य हैं, जो स्वयं नित्य हैं तथा घटादि में समवेत हैं। इस प्रकार 'नित्यसमवेत' का अर्थ घटत्व आदि सामान्य हो जाते। परन्तु प्रकृत में वक्ता की विवक्षा के अनुसार 'नित्यसमवेतं' पद का 'नित्ये समवेतम्' इस प्रकार सप्तमी-तत्पुरुष समास हीं इष्ट है। अर्थात् नित्यपरमाणुओं में समवेत द्रव्य द्व्यणुक हीं हैं, यही फलितार्थ है।

इस प्रकार प्रमाणमञ्जरी का द्व्यणुक-लक्षण सर्वथा निर्दुष्ट है।

पार्थिवद्व्यणुकलक्षणम्

गन्धवद्द्व्यणुकं पार्थिवद्व्यणुकम्। पृथिवीत्वं नित्यसमवेतवृत्ति, घटपटवृत्तिजातित्वात् सत्तावदिति परमाणुद्व्यणुकयोस्सिद्धिः।

भाषाटीका—प्रमाणमञ्जरीकार ने परमाणु के समान, द्व्यणुक के भी सामान्य तथा विशेष लक्षण किये हैं। अतः द्व्यणुकसामान्य के लक्षण के बाद पार्थिव द्व्यणुक का लक्षण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—गन्धविशिष्ट द्व्यणुक पार्थिवद्व्यणुक है।

परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि में प्रमाणमञ्जरीकार निम्नलिखित अनुमान प्रस्तुत करते हैं—पृथिवीत्व नित्य (परमाणुओं) में समवेत (समवायसम्बन्ध से आश्रित) पार्थिवपदार्थ में वर्त्तमान है, घट-पट में रहने वाली जाति होने से, सत्ता' के समान।

ब० टी०—जलादिद्व्यणुकेऽतिव्याप्तिवारणाय गन्धवदिति। घटादावतिव्याप्तिभङ्गाय द्व्यणुकमिति। परमाण्वादावतिव्याप्तिवारणाय द्वीति। न च सुरभ्यसुरभिपरमाण्वादावव्याप्तिः, गन्धयोग्यताया विवक्षितत्वात्।

विमला—जलीय द्व्यणुकादि में अतिव्याप्ति के निरास के लिए लक्षण में 'गन्धवत्' पद सन्निविष्ट है। घटादि भी गन्धवान् हैं, अतः घटादि में अतिप्रसंग के निरासार्थ 'द्व्यणुक' पद सन्निविष्ट है। पार्थिव परमाणु भी गन्धवान् हैं, अतः पार्थिव परमाणुओं

से व्यवच्छेद के लिए 'द्वि' पद अर्थात् 'द्वयणुक' पद संगृहीत है। सुरभि तथा असुरभि से विशिष्ट दो परमाणुओं से आरब्ध द्वयणुक को गन्धरहित हीं मानना पड़ेगा। इस प्रकार 'गन्धवद् द्वयणुकं पार्थिवद्वयणुकम्' इस पार्थिव द्वयणुक-लक्षण की उपर्युक्त गन्धरहित द्वयणुक में अव्याप्ति स्पष्ट है। अतः यहाँ टीकाकार का कहना है कि पार्थिवगन्धरहित द्वयणुक में भी गन्ध की योग्यता तो है हीं। गन्ध योग्यता का अर्थ गन्धसमानाधिकरण-द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्व है। अर्थात् गन्ध के अधिकरण जो अन्य पार्थिव द्वयणुकादि हैं, उनमें द्रव्यत्वव्याप्य[1] जाति पृथिवीत्व है उस पृथिवीत्व जाति से युक्त होना, कारण पृथिवीत्व जाति तो उस गन्धरहित पार्थिवद्वयणुक में भी वर्त्तमान है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रमाणमञ्जरी का पार्थिव द्वयणुक-लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों से सर्वथा रहित है।

ब्र० टी०—परमाणुद्वयणुकयोः प्रमाणमाह—पृथिवीत्वमिति। वृत्तिमदेतावदुच्यमानेऽर्थान्तरम्। समवेतवृत्तीत्युच्यमानेऽपि तथा। तदर्थमुक्तम्—नित्येति। नित्यकालादिसम्बद्धे घटादौ पृथिवीत्वं वर्तत एवेत्यर्थः, तद्वारणाय समवेतेति। नित्यसमवेतवृत्तीत्यर्थः। तेन परमाणुद्वयणुकवृत्तित्वसिद्धिः।

विमला—परमाणु तथा द्वयणुक को प्रमाण के द्वारा सिद्धिः—प्रमाणमञ्जरीकार ने अनुमान प्रमाण के द्वारा परमाणु तथा द्वयणुक की सिद्धि की है:—"पृथिवीत्व नित्य परमाणुओं में समवेत पार्थिवपदार्थ में विद्यमान है, घट-पट में रहने वाली जाति होने से, सत्ता के समान"।

तात्पर्य यह है कि जैसे सत्ता[2] जाति घट-पट में रहने के साथ-साथ नित्य द्रव्य आकाशादि में समवेत, शब्दादि गुणों में भी अवश्य रहती है उसी प्रकार पृथिवीत्व

---

१. द्रव्यत्व से व्याप्य पृथिवीत्व जाति हैं। व्याप्यत्व का अर्थ है अल्पदेश में रहना। द्रव्यत्व जाति पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन—इन नौ द्रव्यों में रहती है, पृथिवीत्व जाति केवल पृथिवी में रहती है, अतः द्रव्यत्व की अपेक्षा अल्पदेश में रहने के कारण द्रव्यत्व से व्याप्य जाति पृथिवीत्व जाति है। अतः गन्ध के साथ एक अधिकरण में रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्य जाति पृथिवीत्व जाति है। ऐसी जाति तो गन्ध-रहित द्वयणुक में भी विद्यमान है। अतः उपर्युक्त लक्षण दोष-रहित है।

२. वैशेषिक दर्शन के सप्तपदार्थों में चतुर्थ पदार्थ सामान्य या जाति है। सामान्य के दो भेद हैं—(१) पर सामान्य, तथा (२) अपर सामान्य। अधिक देश में रहने वाली जाति को पर सामान्य कहते हैं—जैसे सत्ता—द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीनों पदार्थों में रहती है। न्यूनदेश में रहने वाली जाति को अपर सामान्य कहते हैं—जैसे पृथिवीत्व जाति केवल पृथिवी में रहती है।

जाति भी घट-पट में रहने से घट-पट के साथ-साथ किसी नित्यसमवेत पदार्थ में भी अवश्य विद्यमान रहेगी। इस प्रकार द्व्यणुक की सिद्धि होने पर परमाणु स्वतःसिद्ध होते हैं, कारण परमाणु के विना द्व्यणुक की उत्पत्ति सम्भव नहीं। नित्यसमवेत (नित्य द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से आश्रित) पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष ये पाँच हैं। पृथिवीत्व नित्यसमवेत गुण तथा कर्म में नहीं रह सकता, कारण गुण में गुणत्व-रूपत्व आदि सामान्य तो रहते हैं परन्तु पृथिवीत्व नहीं, इसी प्रकार कर्म में भी कर्मत्व सामान्य तो है, परन्तु पृथिवीत्व नहीं। इस प्रकार पृथिवीत्व गुण तथा कर्म में नहीं रह सकता। गुण तथा कर्म से भिन्न सामान्य आदि अन्य पदार्थों में तो किसी प्रकार का सामान्य हीं नहीं रहता है। अतः पृथिवीत्व केवल पार्थिव द्रव्य में रहता है।

अब जब पृथिवीत्व नामक जाति पार्थिव स्थूल द्रव्यों में विद्यमान है तो उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों में भी पृथिवीत्व का रहना सिद्ध हो जाता है। अतः पार्थिव द्रव्यों के अवयवों में जो अन्तिम सूक्ष्म कार्य द्रव्य है, वही द्व्यणुक है। वह, द्व्यणुक भी किसी नित्य पदार्थ में समवेत रहता है, जहाँ से उसकी उत्पत्ति हुई है, वही परमाणु है। इस प्रकार परिशेषात् परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि होती है।

उक्त अनुमान में 'नित्यसमवेतवृत्तित्व' साध्य[1] है। इसमें 'वृत्तित्व' विशेष्य है। 'समवेत' पद उसका विशेषण है। एवम् 'नित्य' पद विशेषण का विशेषण होने से विशेषणतावच्छेदक है। यह नियम है कि साध्य के किसी एक टुकड़े की सिद्धि होने से सम्पूर्ण साध्य की सिद्धि मानी जाती है। अर्थात् यदि साध्य की सिद्धि हो तो उसके विशेषण तथा विशेषणतावच्छेदक दोनों ही स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार उक्त अनुमान से परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि होती है।

उपर्युक्त अनुमान का पदकृत्य करते हुये टीकाकार का कहना है कि यदि केवल "पृथिवीत्वं वृत्तिमद् घटपटवृत्तिजातित्वात्" इतना कहते तो घटादि में अतिव्याप्ति होने से अर्थान्तर[2] होता, क्योंकि पृथिवीत्व तो घट-पट में रहनेवाली जाति है हीं। यदि "पृथिवीत्वं समवेतवृत्तिमद्" कहते तो भी अनित्य कपाल, तन्तु आदि में समवेत घट-पट में अतिप्रसक्ति[3] होती। इसलिये अर्थान्तरदोष के निरासार्थ "नित्यसमवेतवृत्ति" पद साध्य में कहा गया है।

नित्य कालादि के साथ सम्बद्ध घटादि में पृथिवीत्व जाति है हीं। अतः उनके निषेध के लिये साध्य में "समवेत" पद प्रविष्ट है। नित्य कालादि के साथ घटादि संयोग सम्बन्ध से हीं सम्बद्ध है, समवाय से नहीं। इस प्रकार उक्त अनुमान के साध्य में 'नित्यसमवेतवृत्ति' पद के रखने से नित्य पार्थिव परमाणु में द्व्यणुक का समवाय सम्बन्ध से वृत्तित्व सिद्ध होता है।

---

१. जिसकी हेतु के द्वारा सिद्धि की जाती है वह साध्य है। जैसे धूमहेतुक अनुमान में अग्नि साध्य है।

२. अर्थान्तर एक दोष है। इसका अर्थ है साध्य से भिन्न पदार्थ का सिद्ध होना।

३. अतिप्रसक्ति = अतिव्याप्ति।

ब० टी०—यद्वा यन्नित्यं तत्पक्षधर्मताबलेन पृथिवीत्वाधिकरणमेव सिध्यतीति भावः। नित्यमिति वक्तव्येऽर्थान्तरम्। नित्यसमवेतम्, एतावदिति वक्तव्ये परमाणुमात्रस्य सिद्धिः, तदर्थं विशिष्टमुक्तम्। घटपटपदे घटत्वपटत्वयोर्व्यभिचारवारणाय। घटपटान्यतरत्वे व्यभिचारवारणाय जातित्वादिति। सत्ता नित्यसमवेते शब्दादौ वर्तत इति दृष्टान्तसिद्धिः। न च द्रव्यत्वे व्यभिचारः, तस्य पक्षसमत्वात्।

विमला—अथवा पक्षधर्मताबलात् जो नित्य पदार्थ है, वही पृथिवीत्व का अधिकरण परमाणु तथा परमाणु में समवेत द्व्यणुक है। पक्षधर्मता का अर्थ है हेतु[1] का पक्ष[2] में रहना, अथवा हेतु का पक्ष के साथ सम्बन्ध। अतः उक्त अनुमान में जो "घटपटवृत्तिजातित्व" हेतु है वह पक्षभूत पृथिवीत्व ही है। कारण घट तथा पट दोनों में रहने वाली जाति पृथिवीत्व हीं होगी। अब यदि पृथिवीत्व द्व्यणुक में रहे तो द्व्यणुक जिन परमाणुद्वय से निर्मित है उनमें भी पृथिवीत्व का रहना आवश्यक है। अतः हेतुस्वरूप घटपटवृत्ति जाति का पक्षभूत पृथिवीत्व से अभिन्न सम्बन्ध होने से (पक्षधर्मता से) द्व्यणुक से आरब्ध घट-पट में पृथिवीत्व का अस्तित्व सुनिश्चित है। अतः द्व्यणुक में भी पृथिवीत्व का होना अनिवार्य है। एवञ्च पार्थिव द्व्यणुक जिन परमाणु से आरब्ध हैं उनमें भी पृथिवीत्व का होना अनिवार्य है।

इस प्रकार पक्षधर्मताबलात् द्व्यणुक तथा परमाणु की सिद्धि होती है।

पुनः उक्त अनुमान का पदकृत्य करते हुये टीकाकार कहते हैं—यदि उस अनुमान में केवल "पृथिवीत्वं नित्यम्" ऐसा कहते तो पृथिवीत्व जाति की नित्यता सिद्ध हीं है अतः सिद्ध[3] साधनता होती तथा साधनीय परमाणु तथा द्व्यणुक के स्थान पर पृथिवीत्व की नित्यता के सिद्ध होने पर अर्थान्तर भी होता। इसी प्रकार केवल "पृथिवीत्वं नित्यसमवेतं—पृथिवीत्व नित्य में समवेत है'—इतना कहने से यद्यपि नित्य पृथिवी की सिद्धि होने पर परमाणु की सिद्धि हो जाती है, तथापि द्व्यणुक की सिद्धि के लिये विशिष्ट पद—'वृत्तित्व' अथवा 'समवेतवृत्तित्व' पद सन्निविष्ट है। इस प्रकार नित्य परमाणु में समवेत द्व्यणुक में पृथिवीत्व के वृत्तित्व की सिद्धि होती है। अतः पृथिवीत्व पार्थिव परमाणु तथा द्व्यणुक दोनों में समान रूप से विद्यमान है।

---

१. हेतु—जिसके द्वारा साध्य की सिद्धि की जाती हो—जैसे अग्निसाध्यक अनुमान में धूम हेतु है।

२. पक्ष जहाँ साध्य का सन्देह हो अथवा साध्य की सिद्धि की जाती हो। जैसे धूमहेतुक अनुमान में पर्वत पक्ष है।

३. सिद्धसाधनता—यह एक दोष है। इसका अर्थ है—जो सिद्ध है, उसी को पुनः साधनादि के द्वारा सिद्ध करना।

उक्त अनुमान का हेतु है—'घटपटवृत्तिजातित्वात्"। इस हेतु में केवल 'घटजातित्वात्' कहने से घट में रहने वाली जाति घटत्व में तथा "पटजातित्वात्" कहने पर पट में रहने वाली जाति पटत्व में व्यभिचार होता। कारण घटत्व तथा पटत्व नित्य परमाणु में समवेत द्व्यणुक में रहने वाली जाति नहीं हैं, अपितु अनित्य कपालादि में समवेत घटादि में रहने वाली जाति हैं। इस प्रकार हेतु के साध्य में न रहने से व्यभिचार स्पष्ट है, अतः इस व्यभिचार के निराकरणार्थ हेतु में "घटपटवृत्तिजातित्वात्" कहा गया है, अर्थात् घट तथा पट दोनों पदों का समावेश हुआ है, कारण घट तथा पट दोनों में रहने वाली जाति पृथिवीत्व, द्रव्यत्व अथवा सत्ता ही होगी, जो पार्थिव परमाणु तथा द्व्यणुक में निश्चित रूप से विद्यमान है।

यदि हेतु में केवल 'घटपटत्वात्' अथवा 'घटपटधर्मत्वात्" कहते तो घट-पट में वर्तमान [1]अन्यतरत्वरूप धर्म(उपाधि) में व्यभिचार होता। कारण हेतुभूत, घटान्यतरत्व के साध्यभूत "नित्यसमवेत द्व्यणुक" में विद्यमान न रहने से व्यभिचार स्पष्ट है। इस व्यभिचार के निरास के लिए हेतु में 'जातित्वात्" पद समाविष्ट है।

उक्त अनुमान में दृष्टान्त है सत्ता। नित्य आकाश में समवाय सम्बन्ध से समवेत शब्द रूप गुण में एवं नित्य आत्मा में समवेत ज्ञान, इच्छा आदि गुणों में सत्ता के रहने से दृष्टान्त की सिद्धि होती है।

द्रव्यत्व रूप सामान्य में व्यभिचार भी नहीं है, द्रव्यत्व भी पक्षभूत पृथिवीत्व के समान सन्दिग्ध साध्यवान् हो है। अर्थात् जिस प्रकार पक्षभूत पृथिवीत्व में साध्यरूप नित्यसमवेतवृत्तित्व अभी साधनीय है, उसी प्रकार द्रव्यत्व में भी नित्यसमवेतवृत्तित्व साधनीय है, क्योंकि अनुमान के बाद ही साध्य की सिद्धिरूप अनुमिति होती है। अतः उक्त अनुमान के द्वारा पार्थिव परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि के बाद यदि उक्त अनुमान से द्रव्यत्व में भी साध्य की सिद्धि हो तो कोई हानि नहीं है।

इस प्रकार उक्त अनुमान के द्वारा द्व्यणुक तथा परमाणु की सिद्धि होती है।

दार्शनिकों में यह पद्य अतिप्रचलित है :—

"जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः प्रकीर्तितः॥"

अर्थात् जङ्गले के बीच सूर्य की किरणों में उड़ने वाले सूक्ष्मतम रजःकण (त्रसरेणु) का छठा भाग परमाणु है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि किसी स्थूलद्रव्य का वह भाग जिसमें किसी प्रकार के अंश द्रव्य की कल्पना नहीं की जा सकती, वही [2]पारिमाण्डल्य-अणुपरिमाण से विशिष्ट परमाणु है। परमाणु को मानने की आवश्यकता—

---

१. अन्यतरत्व—अन्यतर का अर्थ है दोनों में से एक। अन्यतर मे रहने वाला धर्म अन्यतरत्व है।

१. पारिमाण्डल्य—परमाणु के अणु परिमाण को पारिमाण्डल्य परिमाण कहते हैं।

४

यदि नित्य परमाणु को न माना जाय तो प्रलयकाल में अवयव-नाश के द्वारा सम्पूर्ण पृथिवी, जल, तेज, वायु का नाश स्वीकार करना होगा। वैसी स्थिति में अवयवों के विनष्ट हो जाने से पुनः उत्पत्ति के समय अवयवों के विना ही कार्य की उत्पत्ति माननी होगी। नित्य परमाणु के मानने पर प्रलय-काल में भी परमाणु का अस्तित्व स्वीकरणीय होगा।

एवञ्च यदि अवयवों का सम्पूर्ण विनाश माना जाय तो अन्त्यावयव की कोई निश्चित अवधि न होने से मेरु (पर्वत) तथा सर्षप (राई) में तुल्य परिमाण की आपत्ति होगी। कारण यदि सावयव द्रव्य के अवयव-विभाग का कहीं अन्त नहीं हो तो जैसे पर्वत के अवयव-विभाग का कहीं अन्त नहीं है वैसे हीं सरसों के अवयव-विभाग का भी कहीं अन्त नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सरसों तथा पर्वत इन दोनों के हीं अनन्त अवयवविशिष्ट होने से दोनों की तुल्यता माननी पड़ेगी। परन्तु अन्त्यावयव-रूप परमाणु के मानने पर यह निश्चित हो जाता है कि पर्वत सरसों की अपेक्षा अधिक परमाणुओं से विनिर्मित है। इस प्रकार पर्वत तथा सरसों की तुल्यपरिमाणता की आपत्ति नहीं होती।

इसी प्रकार अवयव-विभाजन की परम्परा का कहीं अन्त न मानने से अनवस्था होगी, क्योंकि यदि परमाणु का अवयव तथा उस अवयव का अवयव आदि अनन्त अवयव माना जाय तो अनवस्था स्पष्ट है। अतः अवयव-विभाजन की परम्परा को परमाणु तक ही सीमित माना गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सृष्टि-प्रक्रिया में परमाणु-स्वरूप अन्त्यावयव को मानना अनिवार्य है। सृष्टि-प्रक्रिया—

प्रसङ्गवशात् यहाँ संक्षेप में न्याय-वैशेषिकों की सृष्टि-प्रक्रिया की चर्चा की जा रही है—

न्याय-वैशेषिक दृष्टिकोण के अनुसार सृष्टि-रचना के समय ईश्वर सृष्टि के निर्माण की इच्छा करते हैं। वह ईश्वरेच्छा सारी आत्माओं के "अदृष्ट" में व्याप्त होकर एक नवीन स्पन्दन का प्रारम्भ करती है। इस अदृष्ट के स्पन्दन से सर्वप्रथम वायु के अणु प्रभावित होते हैं। आत्मा के साथ इन अणुओं का संयोग होता है। तदनन्तर अदृष्ट से दो अणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। उस क्रिया से दो अणुओं के संयोग से द्वयणुक तथा तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार क्रमशः महावायु की सृष्टि होती है। वायु के पश्चात् जल-परमाणुओं के समुच्चय से जल और तैजस परमाणुओं से तेजस् की सृष्टि होती है। इसके पश्चात् पार्थिव परमाणुओं से स्थूल पृथिवी का प्रादुर्भाव होता है। स्थूल पृथिवी भी द्वयणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक के क्रम से हीं उत्पन्न होती है। इस प्रकार ईश्वर की अनादि-अनन्त इच्छा से ही वायवीय, तैजस, जलीय तथा पार्थिव परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होकर उन-उन परमाणुओं के संयोग से क्रमशः स्थूल द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। प्रलय—न्याय-वैशेषिक आचार्यों के अनुसार ईश्वर सभी प्राणियों को शान्ति और विश्राम देने के लिए प्रलय की इच्छा

करते हैं—"संहारेच्छो भवति।" इसके साथ ही सारी आत्माओं, शरीर, इन्द्रियादि स्थूल तत्त्वों में निवास करने वाली अदृष्ट शक्ति का लोप हो जाता है।

इस समय सम्पूर्ण पृथिवी तथा सृष्टि विघटित होकर अणुओं में परिवर्तित हो जाती है। पुनः सृष्टि के समय परमाणुओं से ही सृष्टि का आरम्भ होता है।

(शरीरसामान्यलक्षणम्)

उत्तरा त्रेधा—शरीरादिभेदेन। स्पर्शवदिन्द्रियसंयुक्तमेव भोग-साधनम् अन्त्यावयवि शरीरमिति सामान्यलक्षणम्।

भाषाटीका—प्रमाणमञ्जरीकार ने अनित्य पृथिवी के जो दो भेद किये थे—(१) नित्य (परमाणु में) समवेत द्व्यणुक, तथा (२) अनित्य (द्व्यणुकादि में) समवेत त्र्यणुकादि उनमें से द्वितीय—अनित्यसमवेत पृथिवी तीन प्रकार की है—(१) शरीर, (२) इन्द्रिय तथा (३) विषय भेद से। स्पर्शवान्, इन्द्रियसंयुक्त, तथा भोग का साधनभूत अन्त्यावयवी ही शरीर है। यही शरीर का सामान्य लक्षण है।

ब० टी०—(उत्तरा)अनित्यसमवेतेत्यर्थः। स्पर्शवदिति। दण्डादावति-व्याप्तिवारणाय भोगेति। भोगः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कार इति। दुःखपदं व्यर्थमिति चेन्न, नारकीयशरीरेऽव्याप्तिवारकत्वात्। तस्य शरीरस्य केवल-पापारब्धतया सुखानवच्छेदकत्वात्।

विमला—प्रमाणमञ्जरी में अनित्यसमवेत पृथिवी को शरीरादि-भेद से तीन भागों में विभाजित किया गया है। उनमें से प्रथम शरीर है। शरीर का सामान्य लक्षण करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है—जो स्पर्शवान् तथा इन्द्रियसंयुक्त हो एवं भोगसाधन और अन्त्यावयवी[1] हो, वही शरीर है। इस प्रकार शरीर-लक्षण में चार पदों का समावेश हुआ है—'स्पर्शवत्', 'इन्द्रियसंयुक्तम्','भोगसाधनम्' तथा 'अन्त्यावयवी'।

दण्डादि में अतिव्याप्ति के निरास के लिए शरीर-लक्षण में 'भोग' पद सन्निविष्ट है, कारण दण्ड भी स्पर्शवान् है तथा चक्षुरादि इन्द्रियों से संयुक्त भी होता है। एवञ्च घटादि के निर्माण का साधन तथा अन्त्यावयवी है। अतः दण्डादि में अतिव्याप्ति स्पष्ट है। अतः दण्डादि से व्यवच्छेद के लिए शरीर-लक्षण में 'भोग' पद का समावेश हुआ है। यद्यपि दण्ड आदि भी परम्परया सुख-दुःखादि के भोग के साधन होते हैं,

---

१. अन्त्यावयवी—अन्त्यावयवी अर्थात् जिसका कोई अवयवी न हो। जैसे अङ्गुली आदि अवयवों की दृष्टि से हाथ अवयवी है। हाथ की दृष्टि से शरीर अवयवी है। परन्तु शरीर का कोई अवयवी नहीं है। अतः शरीर अन्त्यावयवी है।

तथापि साक्षात् भोग का साधन तो शरीर हीं होता है। अतः 'भोग' पद से शरीर-लक्षण की दण्डादि में अतिव्याप्ति का निरास हो जाता है।

'भोग' पद का अर्थ है सुख तथा दुःख में से किसी एक का साक्षात्कार करना। अतः सुख तथा दुःख के साक्षात्काररूप भोग का साधन ही शरीर है। 'दुःख' पद व्यर्थ नहीं है, क्योंकि शरीर-लक्षण में 'दुःखसाक्षात्कारसाधनम्' पद न देने पर, अर्थात् केवल 'सुखसाधनं शरीरम्' लक्षण करने पर, नारकीय शरीर में अव्याप्ति होती, यतः नारकीय शरीर केवल पाप से आरब्ध होने के कारण सुख का अवच्छेदक नहीं होता है। नारकीय शरीर में सुख नहीं होता—यही आशय है। सुख तथा दुःख का समवायिकारण है आत्मा एवं आत्मा का अधिकरण शरीर है। अतः सुखाधिकरणतावच्छेदक[1] अथवा सुखसमवायिकारणतावच्छेदक[2] तथा दुःखाधिकरणतावच्छेदक अथवा दुःखसमवायिकारणतावच्छेदक शरीर ही है। अतः शरीर का लक्षण 'सुखसाक्षात्कारसाधनम्' मात्र करने पर नारकीय शरीर में शरीर-लक्षण की अव्याप्ति होती।

ब० टी०—न च दुःखसाक्षात्कारसाधनं दुःखसाधनमित्येवास्तु, इतरपदवैयर्थ्यमिति वाच्यम्। स्वार्गे शरीरे तस्याव्याप्तिवारकत्वात्, तस्य केवलपुण्यारब्धतया दुःखानवच्छेदकत्वात्।

विमला—शरीर का लक्षण 'दुःखसाक्षात्कारसाधनम्' मात्र नहीं किया जा सकता है, क्योंकि तब स्वर्गीय शरीर में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। कारण स्वर्गीय शरीर केवल पुण्य से आरब्ध है, अतः वह दुःख का अवच्छेदक नहीं होता है। अतः "सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारसाधनं शरीरम्" यही शरीर का लक्षण करना उचित है।

ब० टी०—ननु मरणस्य दुःखाविनाभूतत्वेन स्वर्गिशरीरमपि दुःखजनकं भवत्येवेति चेन्न, सुखजनके परिमाणभेदोद्भिन्नशरीरे दुःखमजनयित्वैव नष्टे तस्य विशेषणस्याव्याप्तिवारकत्वात्। यत्तु मरणदशायामपि स्वर्गिणो न दुःखम्,

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं यत्तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

इत्यादेरुक्तत्वादिति तन्न; तत्र मरणकालीनदुःखातिरिक्तदुःखासम्भेदस्योक्तत्वात्। न च मरणं दुःखविनाभूतमेवेति तत्राव्याप्तौ स्वर्गिमरणाति-

---

१. सुखाधिकरणतावच्छेदक का अर्थ सुख के अधिकरण (समवायसम्बन्ध से सुख आत्मा में हीं आश्रित है) आत्मा में अधिकरणता का अवच्छेदक = आच्छादन करने वाला शरीर हीं है।

२. सुखसमवायिकारणतावच्छेदक का अर्थ भी इस प्रकार हीं है। सुख के समवायिकारण आत्मा में अधिकरणता का अवच्छेदक शरीर है। इस प्रकार दुःख का भी समझना चाहिये।

रिक्तमरणमेव गृह्यतामिति वाच्यम्। सामान्यव्याप्तौ वाक्यमन्तरेण सङ्कोचे मानाभावात्। न च 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्' इत्येव तत्र सङ्कोचकम्, अन्यथा भवद्भिरपि कर्तव्ये सङ्कोचे विनिगमनाविरह इति वाच्यम्। स्वर्गे मरणदशायां दुःखस्य पुराणादिसिद्धत्वात्। न च 'ते नराः सुखमृत्यवः' इत्यनेन सह विरोध इति वाच्यम्, तस्याल्पकालव्यापकदुःखपूर्वकमरण-तात्पर्यकत्वात्। न चैवं सुखान्तमुक्तिभङ्गप्रसङ्गः, इष्टापत्तेः, तदुपपादित-मस्माभिः द्रव्यप्रकाशप्रकाशे।

विमला - पूर्वपक्षी आक्षेप कर सकते हैं कि मरण दुःख के बिना होता ही नहीं, अतः स्वर्गीय शरीर भी मरण के समय दुःखदायी होने से दुःखजनक ही है। अतः "दुःखजनकं शरीरम्' इतना ही लक्षण करना उचित है। इसके उत्तर में वैशेषिकों का कहना है कि हमारे शरीर में जो ह्रासवृद्धि होती है वह सम्पूर्ण शरीर में होती है, अतः न्याय-वैशेषिकाचार्य पूर्व शरीर के नाश के बाद ही नूतन शरीर में ह्रास-वृद्धि को मानते हैं। कारण हमारे शरीर में दुःखद परिणाम हो अथवा सुखद, थोड़ा भी परिवर्तन होने पर, सम्पूर्ण शरीर में होता है। अतः जिस सुखजनक शरीर में कृशता अथवा पुष्टता होती हो, वह कृशता व पुष्टता उस सुखजनकीभूत पूर्व शरीर के नाशानन्तर नूतन शरीर में होती है। अब यदि वह सुखजनक शरीर दुःख को उत्पन्न किये बिना हीं विनष्ट हो जाय तो उस सुखजनक शरीर में 'दुःखजनकं शरीरम्' इस शरीर-लक्षण की अव्याप्ति स्पष्ट है। अतः उक्त सुखजनक शरीर में अव्याप्ति के निषेध के लिये शरीर का लक्षण "सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारसाधनं शरीरम्" ही करना उचित है।

जो मीमांसक यह मानते हैं कि मरण-काल में स्वर्गियों को दुःख नहीं होता है, उनके अनुसार स्वर्ग का अर्थ है :—

जो सुख दुःखमिश्रित नहीं है, बाद में भी दुःख से ग्रस्त नहीं होता—शत्रुकृत अपहरणादि की शङ्काओं से रहित है तथा जो सुख अविच्छिन्न रूप से अनन्त वर्षों तक भोग्य होता है एवम् जो अभिलाषोपनीत अर्थात् इच्छा होते ही प्राप्त हो, वही सुख स्वर्गपदवाच्य है। अतः सांसारिक सुखों से विलक्षण सुखस्वरूप स्वर्ग है। अभिप्राय यह है कि मीमांसकों का कहना है कि यद्यपि संसार में मरण दुःखदायी होता है, परन्तु स्वर्गीय मरण में दुःखाभाव होने से एवञ्च स्वर्ग में केवल सुख होने से 'सुखदुःखान्य-तरसाक्षात्कारसाधनं शरीरम्' लक्षण करने पर केवल सुखजनक स्वर्गीय शरीर में अव्याप्ति होगी। अतः 'सुखजनकं शरीरम्' मात्र लक्षण करणीय है।

इसके विरुद्ध वैशेषिकों का कहना है कि आप मीमांसकों के द्वारा किया गया स्वर्ग का उपर्युक्त अर्थ ठीक नहीं, कारण उपर्युक्त अर्थवादरूप श्रुति का अर्थ यही है कि स्वर्ग मरणकालीन दुःख से अतिरिक्त दुःखों से युक्त नहीं है, अर्थात् मरणकालीन दुःख

स्वर्ग में भी है। यह मीमांसकों को अवश्य स्वीकरणीय है, क्योंकि स्वर्गीय मरण में दुःख का रहना प्रमाण-सिद्ध है।

मीमांसक कहते कि मरण दुःख के विना नहीं होता। अतः शरीर का लक्षण 'सुखसाक्षात्कारसाधनम्' मात्र करने पर दुःखजनक शरीर में जो अव्याप्ति हो रही थी वह अव्याप्ति केवल स्वर्गीय मरण से अतिरिक्त इस दृश्यमान संसार के मरणशील शरीरों में हीं ग्रहण करें, अथवा मीमांसक यह कहें कि 'मरण दुःख के बिना नहीं होता'—इस सामान्य नियम की स्वर्गीय मरण में अव्याप्ति होने से स्वर्गीय मरणातिरिक्त मरण को ही ग्रहण करें।

मीमांसकों का उपर्युक्त कथन कदापि उचित नहीं; कारण मरण दुःख के विना नहीं होता—यह जो सामान्य नियम है—इसमें प्रमाण के विना मीमांसकों के कहने मात्र से सङ्कोच नहीं किया जा सकता। अर्थात् मीमांसक जो कहते हैं कि 'मरण दुःख के विना नहीं होता'—इसका अर्थ स्वर्गीय मरण से अतिरिक्त मरण है—यह हम नहीं मानते। यदि मीमांसक कहें कि इसमें 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं····' इत्यादि वचन प्रमाण है, तो इसके उत्तर में हम वैशेषिक कहते हैं कि हम आपके उक्त 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं···' इत्यादि के आधार पर सामान्य नियम 'मरण दुःख के विना नहीं होता' इसमें स्वर्गीय मरण के अतिरिक्त मरणरूप सङ्कोच नहीं कर सकते, क्योंकि तब आपको भी विनिगमना (एकतरपक्षपातिनी युक्ति) के अभाव में, 'मरण दुःख के विना नहीं होता' हमारे इस सामान्य नियम के आधार पर 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नम्···' इत्यादि में मरणकालीन दुःखातिरिक्त दुःख से स्वर्ग युक्त नहीं है—इसप्रकार सङ्कुचित अर्थ मानना पड़ेगा। मीमांसकों का कहना है कि स्वर्गीय मृत्यु से अतिरिक्त मृत्यु हीं दुःखस्वरूप है, अतः स्वर्ग केवल सुखस्वरूप है। इसके विपरीत वैशेषिकों का कहना है कि मरणकालीन दुःख से अतिरिक्त अन्य दुखों से स्वर्ग युक्त नहीं है। यतः मरणकालीन दुःख से स्वर्ग भी युक्त है। स्वर्ग में मरणादि-दशा में दुःख होता हीं है—यह प्रमाण सिद्ध है। वाचस्पति मिश्र सांख्यतत्त्वकौमुदी में लिखते हैं—"मृष्यन्ते हि पुण्यसम्भारोपनीत—स्वर्गसुधामहाह्लादावगाहिनः कुशलाः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्" अर्थात् पुण्यसञ्चय से प्राप्त स्वर्गरूपी अमृत-सरोवर मे अवगाहन करने वाले कुशलकर्मा (यज्ञादिकारी) किञ्चिन्मात्र पाप से प्राप्त दुःखाग्नि की कणिका को सह लेते हीं हैं।

"ते नराः सुखमृत्यवः—वे मनुष्य सुखपूर्वक मरणशील हैं"—इस वाक्य से भी उक्त वैशेषिक मत का कोई विरोध नहीं होता, क्योंकि 'सुखमृत्यवः' का तात्पर्यार्थ अल्पकालीन दुःखपूर्वक मरण से है। आप यह भी नहीं कह सकते कि स्वर्ग में भी दुःख मानने से सुखान्त, अर्थात् सुख जिसके अन्त मे हो, ऐसी मुक्ति में आपत्ति होगी, कारण न्यायवैशेषिक सुखान्त (सुख जिसके अन्त में हो) भावात्मक मुक्ति मानते भी नहीं। न्यायवैशेषिक दर्शन में दुःखाभावरूप अभावात्मक मुक्ति मानी गई है। दुःख जिसके अन्त में हो ऐसे दुःखान्त अथवा सुख जिसके अन्त में हो ऐसे सुखान्त भावात्मक मुक्ति न्यायवैशेषिक नहीं मानते। 'द्रव्यप्रकाशप्रकाश' नामक ग्रन्थ में इस विषय में चर्चा की गई है।

ब० टी०—आत्मन्यतिव्याप्तिवारणाय स्पर्शवदिति। न च शरीरावयवे लक्षणमतिव्यापकमिति वाच्यम्, स्पर्शवत्पदेनान्त्यावयविन उक्तत्वात्। न च घटेऽतिव्याप्तिः, तस्य भोगाजनकत्वात्, भोगसाधनपदेन भोगावच्छेदकत्वस्योक्तत्वाद्वा। न चेन्द्रियसंयुक्तमेवेति योगस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम्, तस्योपरञ्जकत्वात्।

विमला—आत्मा में अतिव्याप्ति के निरास के लिये शरीर-लक्षण में 'स्पर्शवत्' पद सन्निविष्ट है। कारण आत्मा विभु है, अतः इन्द्रियादि से भी संयुक्त है तथा साक्षात् भोग का साधन एवम् अन्त्यावयवी भी है, क्योंकि आत्मा से फिर किसी अन्य अवयवी का निर्माण नहीं होता। अतः शरीर-लक्षण की आत्मा में अतिव्याप्ति स्पष्ट है। परन्तु आत्मा में स्पर्शगुण के अभाव होने से शरीर-लक्षण में 'स्पर्शवत्' पद के देने से आत्मा में अतिव्याप्ति रुक जाती है। शरीरावयव में अतिव्याप्ति की सम्भावना नहीं, कारण 'स्पर्शवत्' पद के साथ 'अन्त्यावयवि' पद भी सन्निविष्ट है। घट में भी अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि घट सुखदुःखसाक्षात्काररूपभोग का जनक नहीं है। प्रकृत में "भोगसाधनम्" पद का भोगावच्छेदकत्व ही अर्थ अभीष्ट है। भोग का कारण आत्मा है, एवञ्च आत्मा का अवच्छेदक शरीर है। अतः परम्परया भोगावच्छेदक शरीर ही है, घटादि नहीं। शरीर सदा इन्द्रियसंयुक्त है, जब कि घट-पटादि कभी हमारी इन्द्रियों से संयुक्त रहते हैं, कभी नहीं। अतः 'एवकार' समाविष्ट है। अर्थात् जो सदा इन्द्रियों से संयुक्त हो कर ही भोग का साधन बनता हो, वही शरीर है। इस प्रकार 'इन्द्रियसंयुक्तमेव' पद से ही शरीर का लक्षण हो जाता है। परन्तु इससे भोगादि पद व्यर्थ नहीं हैं। जिसप्रकार किसी मकान को हम उसकी छत पर खड़े लड़के के द्वारा निर्दिष्ट करते हैं, वह लड़का उस मकान का लक्षण नहीं, बल्कि उपलक्षण या उपरञ्जक है उसी प्रकार भोगादि पद भी लक्षण के साथ आने वाले शरीरादि के उपलक्षण हैं।

ब० टी०—अन्ये तु भोगसाधनमित्युक्ते चक्षुरादावतिव्याप्तिः स्यात्, तदर्थमिन्द्रियसंयुक्तमिति वाच्यम्। घटादावतिव्याप्तिवारणायैवकारः। तस्य स्मृत्यादिविषयतापन्नस्यापि भोगसाधनतयावधारणार्थो नास्तीति नातिव्याप्तिः, मनस्संयुक्तस्यात्मनो भोगसाधनस्य व्यवच्छेदार्थं स्पर्शवदिति व्याचख्युः।

तन्न; इन्द्रियादीनां भोगाजनकतया पदवैयर्थ्यात्, प्राणवायुशरीरावयवकरचरणादावतिव्याप्तिश्च। ननु पूर्वव्याख्यानेऽपि लक्षणमिदं मृतशरीरव्यापकम्, अव्यापकञ्च नृसिंहशरीर इति चेत्—न; आत्मविशेषगुणजनकमनस्संयोगवद्वृत्त्यन्त्यावयविमात्रवृत्तिजातिमत्त्वं शरीरत्वमित्यस्य विवक्षितत्वात्। व्याख्यातञ्चैतत् द्रव्योपायोपाये।

विमला—कुछ लोगों का कहना है कि मात्र 'भोगसाधनम्' शरीर का लक्षण करने पर चक्षुरादि इन्द्रियों में अतिव्याप्ति होगी, यतः चक्षु भी तैजसेन्द्रिय होने से स्पर्शवान् है। कारण चक्षु का कारणीभूत तेज स्पर्शवान् है, और चक्षु भोगसाधन तो है ही, अतः जिन ग्रन्थों में 'अन्त्यावयवि' पाठ नहीं है, उन ग्रन्थों के शरीर-लक्षण की चक्षुरादि में अतिव्याप्ति स्पष्ट है। इस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ, 'इन्द्रियसंयुक्तम्' पद शरीर-लक्षण में अवश्य देय है। कारण इन्द्रिय किसी अन्य इन्द्रियों से संयुक्त नहीं रहती। घटादि भी इन्द्रियों से संयुक्त होते हैं, परन्तु सर्वदा के लिए नहीं, अतः 'एवकार' से शरीर हीं लक्षित होता है। घटादि के स्मृति आदि के विषय होने पर भी उनमें भोग के साधन रूप से अर्थों को ग्रहण करने की क्षमता नहीं है।

अर्थात् घटादि में भोगजनकता व भोगावच्छेदकत्व नहीं है। एवञ्च घटादि के स्मरण से सुख अथवा दुःख होने पर भी उन स्मृतिविषयीभूत घटादि के इन्द्रिय-संयुक्त न रहने से घटादि में शरीर-लक्षण की अतिव्याप्ति रुक जाती है। मन से संयुक्त विभु आत्मा अन्य इन्द्रियों के साथ संयुक्त होकर ही भोग का कारण बनती है। अतः आत्मा में अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ शरीर-लक्षण में 'स्पर्शवत्' पद समाविष्ट है। आत्मा के स्पर्शशून्य होने से उसमें शरीर-लक्षण की अतिव्याप्ति का निरास हो जाता है।

परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, कारण 'भोगसाधनम्' पद की चक्षुरादि इन्द्रियों में अतिव्याप्ति होती ही नहीं, क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ भोग के जनक नहीं हैं। अतः ''इन्द्रियसंयुक्तम्' पद ग्रहणीय नहीं है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि इन्द्रियाँ भोग-साधन होती हैं, तथापि वे सुखाधिकरणतावच्छेदक या दुःखाधिकरणतावच्छेदक नहीं है। 'भोगसाधनम्' पद की इन्द्रियादि में अतिव्याप्ति मानने पर प्राणवायु शरीरावयवरूप कर, चरणादि में भी अतिव्याप्ति माननी पड़ेगी।

यहाँ पूर्वपक्षी की ओर से आक्षेप है कि शरीर-लक्षण की पूर्वव्याख्या करने पर उपर्युक्त लक्षण की मृत शरीर में अतिव्याप्ति तथा नृसिंहादि-शरीर में अव्याप्ति होती है। अर्थात् 'भोगसाधनम्' पद की चक्षुरादि में अतिव्याप्ति न मानने पर भी बलभद्रमिश्र ने जो 'इन्द्रियसंयुक्तम्' आदि पदों के पदकृत्य प्रस्तुत किये थे उसके अनुसार शरीर-लक्षण में उपर्युक्त अनुपपत्तियाँ होती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि 'स्पर्शवदिन्द्रियसंयुक्तमेव भोगसाधनम् अन्यावयवि' इस शरीर-लक्षण की बलभद्र मिश्र के अनुसार व्याख्या करने पर पूर्वपक्षी का कहना है कि मृतशरीर भी स्पर्शवत् है तथा कुछ क्षण तक इन्द्रियसंयुक्त भी रहता है एवंच अन्त्यावयवी भी है और भोगसाधन भी है। इस प्रकार उक्त शरीर-लक्षण का मृत शरीर में अतिप्रसङ्ग होता है। पूर्वपक्षी के इस आक्षेप के समाधान में बलभद्र मिश्र की ओर से अति स्वाभाविक उत्तर यही है कि मृत-शरीर में इन्द्रियादि नष्ट हो जाते है। अतः जब तक शरीर इन्द्रियसंयुक्त रहेगा, तक तब शरीर में भोग-साधनत्व भो बना रहेगा। इन्द्रियसंयुक्त न रहने पर शरीर में भोगसाधनत्व भी नहीं रहेगा।

पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि नृसिंहादि अवतारों के शरोर प्रारब्धवशात् उत्पन्न न होने से सुख-दुःख रूप भोग का साधन नहीं है। अतः नृसिंहादि-शरीर में उक्त

शरीर-लक्षण की अव्याप्ति होगी—यह कहना भी उचित नहीं, कारण बलभद्र मिश्र के अनुसार जाति (उपाधि) से घटित लक्षण करने पर शरीर-लक्षण की उपपत्ति हो जाती है। शरीर का उपाधि-घटित लक्षण इस प्रकार है :—

'आत्मविशेषगुणजनकमनस्संयोगवद्वृत्त्यन्त्यावयविमात्रवृत्तिजातिमत्त्वं शरीरत्वम्'। इस लक्षण का परिष्कार इस प्रकार किया जा सकता है—आत्मा के विशेषगुण ज्ञान, इच्छा आदि के जनक आत्ममनःसंयोग है। पुनः आत्मसंयुक्त मन इन्द्रियों के साथ तथा इन्द्रियसम्बद्ध शरीर के साथ संयुक्त होता है। अतः आत्ममनःसंयोग का आधार जो शरीर उसमें रहनेवाली जो जाति (उपाधि) शरीरत्व उससे नृसिंहादि शरीर भी युक्त हैं। अथवा उक्त लक्षण का इस प्रकार भी अर्थ किया जा सकता है—आत्ममनःसंयोगयुक्त इन्द्रियाँ हैं, अतः इन्द्रियों के माध्यम से अन्त्यावयवी शरीर भी आत्ममनःसंयोगयुक्त हुये। अतः शरीर में रहने वाली शरीरत्व उपाधि से युक्त नृसिंहादि शरीर भी हैं।

आशय यह है कि बाह्य प्रत्यक्ष में सर्वप्रथम आत्मा मन के साथ संयुक्त होती है, पुनः आत्मसंयुक्त मन इन्द्रियों के साथ-साथ शरीर के साथ भी संयुक्त होता है। इसके बाद बाह्य इन्द्रियाँ घटादि विषयों के साथ संयुक्त होती हैं। आन्तर प्रत्यक्ष में तो आत्मसंयुक्त मन शरीर के साथ संयुक्त होते हुये सुख, दुःख, ज्ञान, इच्छादि विषयों के साथ युक्त होता है। इस प्रकार बाह्य आन्तर दोनों प्रत्यक्षों में ही आत्ममनःसंयोगवान् शरीर हीं है। अतः आत्ममनस्संयोगवान् अन्त्यावयवी शरीर में रहनेवाली शरीरत्व उपाधि से सभी शरीर युक्त हैं। 'द्रव्योपायोपाय' नामक ग्रन्थ में इस प्रकार का यह उपाधि-घटित लक्षण वर्णित है।

पार्थिवशरीरं तद्विभागश्च

गन्धवच्छरीरं पार्थिवं शरीरम्। स्वसमवेतसुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः। तद्द्वेधा—योनिजायोनिजभेदेन। पूर्वमस्मदादीनां प्रत्यक्षसिद्धम्। उत्तरञ्च द्वेधा—प्रकृष्टधर्मजम् अन्यथा चेति।

भाषाटीका—गन्धयुक्त शरीर पार्थिव शरीर है।

स्व अर्थात् अपनी आत्मा में समवेत सुख तथा दुःख दोनों में से किसी एक का साक्षात्कार करना हीं भोग है। पार्थिव शरीर दो प्रकार के होते हैं—(१) योनिज[1]

१. योनिज शरीर—
'योनिज' शब्द का अर्थ है—'शुक्रशोणित-सन्निपातापेक्षत्वम्'। योनिज शरीर दो प्रकार के हैं—(क) जरायुज तथा (ख) अण्डज भेद से। मनुष्य, पशु, मृग आदि के शरीर जरायुज हैं तथा पक्षी, सरीसृप (सर्प आदि) के शरीर अण्डज।

५

(२) अयोनिज[१] भेद से। इनमें से प्रथम हमारा शरीर योनिज है, जो कि प्रत्यक्षसिद्ध है। द्वितीय अयोनिज शरीर को भी पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है—(१) प्रकृष्टधर्मज तथा (२) प्रकृष्टाधर्मज।

ब० टी०—विशेषलक्षणमाह—गन्धवदिति। अत्र गन्धयोग्यता विवक्षिता, तेन न सुरभ्यसुरभ्यवयवारब्धेऽव्याप्तिः। जलीयशरीरेऽतिव्याप्ति-वारणाय गन्धवदिति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय शरीरमिति।

विमला—प्रमाणमञ्जरीकार ने पार्थिव शरीर का विशेष लक्षण करते हुये कहा है—"गन्धवच्छरीरं पार्थिवशरीरम्—गन्धवान् शरीर पार्थिव शरीर है।"

प्रकृत में उपर्युक्त 'गन्धवत्' पद का अर्थ गन्धयोग्यता है, अन्यथा उत्पत्ति के प्रथमक्षण में पार्थिव शरीर के गन्धहीन होने से उसमें उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी एवं पार्थिव शरीर के गन्धवत्त्व लक्षण की सुरभि-असुरभियुक्त अवयवों से आरब्ध गन्धहीन शरीर में भी अव्याप्ति स्पष्ट है। अतः 'गन्धवत्' पद से गन्ध की योग्यता हीं विवक्षित है। गन्ध की योग्यता तो सभी पार्थिव शरीरों में है। जलीय शरीर में अति-व्याप्ति के निषेध के लिये 'गन्धवत्' पद समाविष्ट है। घटादि भी गन्धवान् हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति के निरास के लिये लक्षण में 'शरीरम्' पद का समावेश हुआ है।

ब० टी०—शरीरलक्षणे प्रविष्टो भोग एव क इत्यत आह—स्वेति। ईश्वरसाक्षात्कारस्य भोगत्ववारणाय स्वेति। अस्मदादिसुखमीश्वरसम्बद्धं केन-चित्सम्बन्धेन भवत्येवेत्यत उक्तम्—समवेतेति। साक्षात्समवेतेत्यर्थः। साक्षात्सम्बन्धतो वचने विषयतासम्बन्धेनास्मत्सुखमीश्वरसम्बद्धं भवत्येवेत्यत उक्तम्—समवेतेति। आत्मत्वादिसाक्षात्कारस्य भोगवारणाय सुखेति। सुख-साक्षात्कारत्वं दुःखसाक्षाकाराव्यापकम्। दुःखसाक्षात्कारत्वन्तु सुखसाक्षा-त्काराव्यापकम्। एतत्समुच्चितसाक्षात्कारत्वमसम्भवि, अत उक्तम्—अन्यतरेति।

---

१. अयोनिज शरीर—

अयोनिज पद का अर्थ है—'शुक्रशोणित-सन्निपातानपेक्षत्वम्'। अयोनिज शरीरों में जो प्रकृष्ट धर्मज हैं वे देवता, ऋषि आदि के हैं, तथा प्रकृष्ट अधर्मज शरीर मशकादि के हैं। यद्यपि वृक्षादि भी वृद्धि, क्षत तथा पुनः ठीक होना—इन सबसे भोग का आधार होने से शरीरविशेष हैं, तथापि हिताहित-प्राप्ति-परिहारानुकूल चेष्टा तथा इन्द्रियाधारता वृक्षादि में स्पष्ट नहीं है, इसीलियं इसमें शरीर का व्यवहार नहीं होता।

योनिज शरीर प्रत्यक्षसिद्ध है, परन्तु प्रत्यक्षायोग्य अयोनिज शरीर को सिद्धि के लिए श्रुति, स्मृति तथा अनुमानादि प्रमाणों का ग्रहण अत्यावश्यक है।

विमला—शरीर-लक्षण में प्रविष्ट "भोग" पद का अर्थ क्या है ? इसके उत्तर में ग्रन्थकार ने भोग का लक्षण करते हुये कहा है—'स्वसमवेतसुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः—स्व अर्थात् अपनी आत्मा में समवेत सुख तथा दुःख दोनों में से किसी एक का साक्षात्कार ही भोग है।'

ईश्वर तथा योगी सर्वज्ञ हैं। अतः वे जीवों के सुख-दुःखों का अर्थात् परसमवेत सुख-दुःखों का साक्षात्कार करते ही हैं। अतः 'सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कार' मात्र भोग का लक्षण करने पर ईश्वर तथा योगी के साक्षात्कार में भोग-लक्षण की अतिव्याप्ति होती। अतः उपर्युक्त लक्षण में 'स्व' पद समाविष्ट है। 'स्व' अर्थात् हमारी आत्मा में समवेत सुख-दुःखादि का मन के द्वारा 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्याकारक बोध ही भोग है।

पुनः हम जीवों के सुख-दुःखादि का ईश्वर के साथ किसी न किसी प्रकार सम्बन्ध हो जाने से ईश्वर का जीवनिष्ठ सुख-दुःखों का साक्षात्कार भी 'स्वसाक्षात्कार' होता है। अर्थात् आत्मा का मन के साथ संयोग, मन का इन्द्रियों के साथ संयोग तथा इन्द्रिय (मन) का सुखदुःखात्मक विषयों के साथ संयुक्त-समवायरूप सम्बन्ध होने पर आत्मा सुखदुःखादि का साक्षात्कार करती है। उक्त सुखदुःखात्मक विषयों के साथ ईश्वर भी विभु होने से सम्बद्ध रहते हैं। इस प्रकार परम्परया ईश्वर के भी जीवों के सुखदुःखादि के साथ सम्बद्ध होने से जीवों का सुखदुःखसाक्षात्कार भी ईश्वर का 'स्वसाक्षात्कार' हुआ। अतः लक्षण में "स्वसमवेत" पद का समावेश हुआ है। साक्षात् समवेत—यही अर्थ है। साक्षात् सम्बन्ध मात्र कहने पर जीवों के सुखदुःखादि के साथ विषयता सम्बन्ध से तो ईश्वर भी साक्षात् सम्बद्ध हैं, अतः अतिव्याप्ति स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि जीवों के सुखदुःखादि विषय हैं तथा सुखदुःखादि का ज्ञान जो ईश्वर को होता है वह ज्ञान विषयी है। उस सुखदुःखादि का ज्ञान ईश्वर को होता है।

इस प्रकार विषयता सम्बन्ध से जीवों के सुखदुःखादि भी साक्षात् ईश्वरसम्बद्ध हैं, यतः विषयता सम्बन्ध भी एक प्रकार का साक्षात् सम्बन्ध ही है। अतः भोग-लक्षण में 'समवेत' पद उपनिबद्ध है। हमारी आत्मा में सुखदुःखादि समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, ईश्वर में नहीं, एवम् उन सुखदुःखादि का ज्ञान आत्मा में ही होता है। यही भोग है। अतः भोग-लक्षण में प्रविष्ट 'स्वसमवेत' पद सार्थक है।

आत्मा का मानस प्रत्यक्ष 'अहं गच्छामि, अहं पठामि' के रूप में सभी को होता है। आत्मा में आत्मत्व जाति विद्यमान है। अतः स्वसमवेत रूप से आत्मत्व जाति का भी मानस प्रत्यक्ष होता है। स्व अर्थात् आत्मा, उसमें समवाय सम्बन्ध से आत्मत्व जाति के रहने से संयुक्तसमवायसम्बन्ध से दोनों का हीं मानस प्रत्यक्ष हो जाता है, क्योंकि मन आत्मा से संयुक्त है तथा आत्मा में आत्मत्व जाति समवाय सम्बन्ध से समवेत है। अतः भोग का लक्षण केवल 'स्वसमवेतसाक्षात्कार' करने पर आत्मत्व जाति में भोग-लक्षण की अतिप्रसक्ति होती, अतः लक्षण में सुखादि पदों का समावेश हुआ है।

सुख-साक्षात्कार दुःख-साक्षात्कार का अव्यापक है, अर्थात् व्यापक नहीं है। तात्पर्य यह है कि सुख का अनुभव होने से हीं दुःख का अनुभव हो ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार दुःख का अनुभव होने पर सुख का अनुभव हो ऐसा भी कोई अनिवार्य नियम नहीं है। कारण जोवन में बहुतों को केवल सुख भोगते देखा जाता है इसके विपरीत किसी किसी को अदृष्टवशात् केवल दुःख ही भोगना पड़ता है। अतः 'सुखसाक्षात्कारो भोगः'' लक्षण करने पर दुःखसाक्षात्कार में भोग-लक्षण की अव्याप्ति होती। अतः सुख तथा दुःख दोनों के साक्षात्कार को भोग कहा गया है।

परन्तु ''सुखदुःखसाक्षात्कारो भोगः'' इस प्रकार भोग-लक्षण करने पर भी सुख तथा दुःख दोनों के एकत्र साक्षात्कार में अतिव्याप्ति की आपत्ति होती। अतः 'अन्यतर' पद सन्निविष्ट है। कारण सुख तथा दुःख दोनों का अनुभव एक साथ होना सम्भव नहीं। अतः 'अन्यतर' पद सार्थक है। प्रकृत में 'अन्यतर' का अर्थ है 'सुखदुःखान्यत्वात्यन्ताभावाश्रयत्वम्', अर्थात् सुख तथा दुःख एक दूसरे के अत्यन्ताभाव के आश्रय हैं—सुख दुःखात्यन्ताभाव का आश्रय है तथा दुःख सुखात्यन्ताभाव का आश्रय है, कारण सुख में दुःख नहीं है तथा दुःख में सुख नहीं। इस प्रकार परस्पर के अत्यन्ताभाव का आश्रय होना ही अन्यतरत्व है। इस प्रकार सुख-दुःखादि के क्रमशः साक्षात्कार सम्भव होने से दोनों के एकत्र साक्षात्कार में लक्षण की अव्याप्ति रुकी।

ब० टी०—अन्ये तु—एकोत्पत्त्यनन्तरमपरं यत्रोत्पन्नं तत्र विनश्यदवस्थाऽविनश्यदवस्थद्वयविषयक एकस्साक्षात्कारस्सम्भवतीत्याहुः।

विमला—कुछ लोगों का कहना है कि सुखानुभव के अव्यवहितोत्तर क्षण में उत्पन्न दुःख की उत्पत्ति के क्षण में सुख भी रहता है। अतः विनश्यद् अवस्था के (सुख के विनाशक्षण के पूर्वक्षण में विद्यमान) सुख तथा अविनश्यद् अवस्था के (उत्पत्ति के प्रथम क्षण में विद्यमान) दुःख के युगपत् साक्षात्कार सम्भव होने से भोग-लक्षण में 'अन्यतर' पद उपलक्षणार्थं संगृहीत है। उपर्युक्त मत का आशय यही है कि सुख तथा दुःख दोनों का एक साथ एक ही समय में साक्षात्कार सम्भव हो सकता है।

ब० टी०—अन्ये तु—आदौ सुखमनन्तरं तज्ज्ञानम्, अनन्तरं दुःखम्, तदनन्तरं जायमानेन दुःखसाक्षात्कारेण द्वयमपि विषयोक्रियते। चतुर्थादिक्षणवृत्तित्वं सुखादेः स्वीक्रियत एवेत्याहुः। (अत्र) लौकिकसाक्षात्कारो विवक्षितः, तेन न ज्ञानोपनीतसुखसाक्षात्कारादिर्भोगः। केचित्तु सविकल्पकं साक्षात्कारं गृह्णन्ति। तेन न सुखनिर्विकल्पकस्य भोगता। अन्ये तु तन्निर्विकल्पस्यापि भोगत्वं वदन्ति।

विमला—कुछ अन्य लोगों का कहना है कि प्रथमतः सुख की उत्पत्ति तदनन्तर सुख का ज्ञान, तत्पश्चात् दुःख की उत्पत्ति होती है। इसके बाद जायमान दुःख-

साक्षात्कार के साथ सुख का भी अनुभव होता है। इस प्रकार दोनों का एक ही क्षण में अनुभव होता है। ऐसा मानने पर प्रथम क्षण में सुख की उत्पत्ति, द्वितीय क्षण में सुख का ज्ञान, तृतीय क्षण में दुःख की उत्पत्ति तथा चतुर्थ क्षण में सुख-दुःख का साक्षात्कार होगा। सुख-दुःख के युगपत् साक्षात्कार को मानने वालों का कहना है कि तृतीयक्षणस्थायी पदार्थों को चतुर्थक्षणस्थायी मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अतः वे सुख को चतुर्थक्षणस्थायी मान लेते हैं।

उपर्युक्त मत के विरुद्ध यही कहना है कि यदि सुख को चतुर्थक्षणस्थायी मानने में कोई आपत्ति न हो तो सुख को चौबीस क्षण स्थायी मानने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। तब तो सुख का नाश ही अनुपपन्न होगा, कारण जब सुखविरोधी दुःख की उत्पत्ति से भी सुख का नाश नहीं होता तब सुखनाश कदापि सम्भव नहीं होगा। अतः सुख को तृतीयक्षणस्थायी मानना ही उचित है, एवम् सुख तथा दुःख के क्रमशः साक्षात्कार मानना ही अभीष्ट है।

प्रकृत में 'साक्षात्कार' पद से लौकिक साक्षात्कार विवक्षित है। अर्थात् स्व-आत्मा में समवेत सुख-दुःख का लौकिक प्रत्यक्ष—यही अर्थ करना चाहिये। कारण, 'इदम् शरीरम् सुखि' इत्यादि रूप से दूसरों की आत्मा में समवेत सुख-दुःख का, उनके शरीर को देखकर ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति से अलौकिक प्रत्यक्ष तो होता ही है, परन्तु वह भोगपद वाच्य नहीं है। अतः सुख-दुःख का लौकिक प्रत्यक्ष ही भोग है—यही तात्पर्यार्थ हुआ। लौकिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद होते हैं—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। कुछ लोग सुखादि के सविकल्पक साक्षात्कार को ही भोग मानते हैं तथा कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार सुखादि का निर्विकल्पक साक्षात्कार भी भोग है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि किसी भी सविकल्पक प्रत्यक्ष के पहले (केवल अभाव के प्रत्यक्ष को छोड़ कर) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है। अतः इस दृष्टि से सुखादि का निर्विकल्पक ज्ञान भी भोगपदवाच्य ही हो सकता है।

अयोनिजशरीरानुमानम्

पार्थिवाः परमाणवः पारम्पर्येण कदाचित्प्रकृष्टधर्मजायोनिज-शरीरारम्भकाः, स्पर्शवत्परमाणुत्वात्, उदकपरमाणुवदिति अयोनिज-शरीरसिद्धिः। दुःखभूयस्त्वादधर्मजमुत्तरं शरीरं मशकादीनाम्। प्रत्यक्ष-सिद्धं तस्यायोनिजत्वम्।

भाषाटीका—पार्थिव परमाणु पारम्पर्येण अर्थात् परमाणुद्वय से द्व्यणुक तथा तीन-तीन द्व्यणुकों से त्र्यणुक की उत्पत्ति के क्रम से कदाचित् प्रकृष्टधर्मजन्य अयोनिज-शरीर के आरम्भक हैं स्पर्शवान् परमाणु होने से, जलीय परमाणु के समान। इस

प्रकार अनुमान से अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है। अयोनिज शरीर के जो दो भेद बताये गये थे—उनमें से प्रथम प्रकृष्टधर्मज शरीर है। इससे भिन्न द्वितीय अयोनिज-शरीर दुःखबाहुल्य के कारण अधर्मज हैं, जो मशकादि के हैं। इनका अयोनिजत्व प्रत्यक्षसिद्ध है।

ब० टी०—आगमसिद्धेऽपि प्रकृष्टधर्मजायोनिजशरीरेऽनुमानमाह—पार्थिवा इति। अंशतः सिद्धसाधनवारणाय पार्थिवा इति। घटादीनां बाध-वारणाय परमाणव इति। अजनितशरीरनष्टद्व्यणुकेन बाधवारणाय परमेति। पार्थिवपदेन मनसा बाधवारणेऽपि साक्षाच्छरीरारम्भकत्वे बाधादाह—पारम्पर्येणेति। सर्वदा शरीरारम्भकत्वे बाधादाह—कदाचिदिति। मशकादि-शरीरारम्भकत्वेनार्थान्तरवारणाय अयोनिजेति। प्रकृष्टधर्मजयोनिजशरी-रेणार्थान्तरवारणाय अयोनिजेति। उत्तमसुखजनकविषयजनकत्वेनार्था-न्तरवारणाय शरीरेति। मनसि व्यभिचारवारणाय स्पर्शवदिति। घटे व्यभिचारवारणाय अणुत्वादिति। शरीरानारम्भकद्व्यणुकव्यभिचारवारणाय परमेति। उदकेति। उदकपरमाणोरागमसिद्धं शरीरारम्भकत्वम्।

विमला—प्रमाणमञ्जरीकार 'द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति' इस न्याय से श्रुतिस्मृति-पुराणागमसिद्ध अयोनिज शरीर की पुनः अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धि करते हैं—

'पार्थिवाः परमाणवः पारम्पर्येण कदाचित्प्रकृष्टधर्मजायोनिजशरीराम्भकाः, स्पर्श-वत्परमाणुत्वात्, उदकपरमाणुवत्'।

बौद्ध किसी वस्तु की सिद्धि में एक ही प्रमाण को पर्याप्त मानते हैं। उनका कहना है कि एक प्रमाण से किसी वस्तु की सिद्धि हो जाने से अन्य सब प्रमाण उसकी सिद्धि में निरस्त हो जाते हैं। इसे ही प्रमाण-विप्लव कहते हैं। इसके विरुद्ध न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों का कहना है कि किसी वस्तु की सिद्धि हम कई प्रमाणों से कर सकते हैं। उदाहरणार्थं आत्मा की सिद्धि प्रत्यक्ष (मानस प्रत्यक्ष) प्रमाण से भी कर सकते हैं तथा अनुमान से एवम् आगम से भी। अर्थात् उस वस्तु की सिद्धि में जितने प्रमाणों की पहुँच हो, वे सभी प्रमाण उसकी सिद्धि में निरत होते हैं। इसे ही प्रमाण-संप्लव कहा जाता है। अतः प्रकृष्ट धर्म से उत्पन्न अयोनिज पार्थिव शरीर के आगमप्रमाण से सिद्ध होने पर भी उसकी सिद्धि में पुनः ग्रन्थकार ने अनुमान को भी उपस्थापना की है। द्रौपदी आदि के प्रकृष्ट धर्मज अयोनिज शरीर तो महाभारतादि आगमसिद्ध हैं ही परन्तु अनुमान के द्वारा भी अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है—यही तात्पर्यार्थ है।

उपर्युक्त अनुमान में पक्षभूत 'पार्थिवाः' पद अंशतः सिद्धसाधन के निषेध के लिए प्रयुक्त है। तात्पर्य यह है कि यदि हम केवल 'परमाणवः पारम्पर्येण कदाचित्प्रकृष्टधर्म-

जायोनिजशरीरारम्भकाः स्पर्शवत्परमाणुत्वात्, उदकपरमाणुवत्' इस प्रकार कहते तो जलीय, तैजस तथा वायवीय शरीरों के प्रकृष्ट धर्मज तथा अयोनिज ही होने से, इनके परमाणु प्रकृष्ट धर्मजायोनिज शरीर ही उत्पन्न करते हैं। अतः इनको पुनः सिद्ध करने में सिद्ध-साधन दोष होगा। परन्तु पार्थिव परमाणु के प्रकृष्ट धर्मजायोनिज शरीर के आरम्भक होने में अभी सन्देह बना हुआ है। अतः 'पार्थिव' पद का उल्लेख न करने पर आंशिक सिद्ध-साधन दोष होगा। यदि पार्थिव परमाणु का अयोनिज शरीराम्भकत्व निश्चित होता तब तो पूर्णतः सिद्ध-साधन दोष होता। अतः आंशिक सिद्ध-साधन दोष के निराकरणार्थ उक्त अनुमान में 'पार्थिवाः' पद का समावेश हुआ है।

घटादि में बाधवारण के लिये 'परमाणवः' पद पक्ष में समाविष्ट है। कारण घटादि भी पार्थिव हैं। परन्तु उनमें प्रकृष्ट धर्मजायोनिजशरीरारम्भकत्व-रूप साध्य नहीं है। पक्ष में साध्य का न रहना (साध्याभाव) ही बाधहेत्वाभास है। अतः उक्त बाध के निराकरणार्थ पक्षभूत 'परमाणवः' पद का समावेश हुआ है।

द्व्यणुक भी अणुपरिमाणयुक्त है। अतः पक्ष में केवल 'अणु' पद रखने से जो द्व्यणुक शरीर को उत्पन्न किये विना ही नष्ट हो जाते हैं, उन नष्ट द्व्यणुकों में उक्त अयोनिजशरीरारम्भकता-रूप साध्य के अभाव से उन विनष्ट द्व्यणुक में साध्याभावरूप बाध सुस्पष्ट है। इसके निराकरणार्थ पक्ष में 'परमाणु' पद रखना आवश्यक है। मन भी अणुपरिमाणविशिष्ट है। अतः कुछ लोग मन को भी परमाणुस्वरूप मानते हैं। एवञ्च परमाणुक के नित्य होने से उस परमाणुस्वरूप मन में शरीरारम्भकत्व की सम्भावना बनी रहेगी। परन्तु मन में शरीरारम्भकता-रूप साध्य का अभाव ही है। अतः मन में बाध के निषेध के लिए 'पार्थिव' पद पक्ष में सन्निविष्ट है। यतः मन पार्थिव नहीं है अतः 'पार्थिव' पद से मन का निरास हो जाता है।

परमाणु साक्षात् शरीर का आरम्भक नहीं है। अतः साक्षात् शरीरारम्भकत्व में बाधनिवारण के लिए 'पारम्पर्येण' पद समाविष्ट है।

मशकादि के शरीर भी चेतना-युक्त होने से अचेतन पदार्थों की अपेक्षा कुछ तो धर्मज हैं ही तथा अयोनिज भी हैं। अतः उनमें अर्थान्तर दोष के निराकरणार्थ उपर्युक्त अनुमान के साध्य में 'प्रकृष्ट' पद है। प्रकृष्टधर्मज योनिज शरीर-रूप अर्थान्तर के निषेध के लिए 'अयोनिज' पद का समावेश हुआ है।

परमाणुत्व का अर्थ ही है निरतिशयाणुपरिमाणवत्त्व, अतः हेतु में अणुपरिमाणवत्त्व कहने से मन में हेतु का व्यभिचार होता, यतः मन भी अणुपरिमाणसम्पन्न है। अतः मन में व्यभिचार के निषेध के लिये हेतु में 'स्पर्शवत्' पद है।

घट भी स्पर्शवान् है। अतः साध्याभावविशिष्ट घट में हेतु का व्यभिचार वारण के लिए हेतु में 'अणु' पद सन्निविष्ट है। शरीरानारम्भक नष्ट द्व्यणुक में व्यभिचार के निरास के लिये हेतु में 'परमाणु' पद का समावेश हुआ है। जलीय परमाणु का प्रकृष्ट धर्मजायोनिजशरीरारम्भकत्व आगमसिद्ध है। अतः दृष्टान्त की सिद्धि होती है।

अतः स्पष्ट है कि प्रमाणमञ्जरी के अयोनिज शरीरसाधकानुमान सभी दृष्टि से निर्दुष्ट है।

इन्द्रियसामान्यलक्षणम्

षड्गुणमप्रत्यक्षं साक्षात्कारप्रतीतिसाधनमिति सामान्यलक्षणम् ।

भाषाटीका—षड्गुणविशिष्ट (छः संख्यायुक्त अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, घ्राण, रसना तथा मन ये छः ही इन्द्रियाँ हैं ।) अथवा रूप रसादि छः गुणों से युक्त, अप्रत्यक्ष अर्थात्, अतीन्द्रिय तथा साक्षात्कार प्रतीति के साधन, अर्थात् जिसके द्वारा रूप, रसादि का प्रत्यक्ष होता हो वही प्रत्यक्ष ज्ञान का करण स्वरूप इन्द्रिय है । यही इन्द्रिय का सामान्य लक्षण है ।

ब० टी०—षड्गुणमिति । शरीरादावतिव्याप्तिवारणाय अप्रत्यक्षमिति । साक्षात्वं जातिः, न त्विन्द्रियजन्यत्वम्, तेन न व्यर्थता, न वात्माश्रयः । प्रतीतिपदं देयमेव, तेन साक्षात्त्वाधिकरणसाधनमित्यर्थः । इदन्तु विशेषणं परमाण्वादावतिव्याप्तिवारणाय । कालादावतिव्याप्तिवारवाय षड्गुणमिति । गुणविभाजकोपाधिमत्त्वेन षड्गुणमित्यर्थं इति यत् तत्रेश्वरात्मन्यतिव्याप्तिः । न च षडेव गुणा इति विवक्षितम्, ईश्वरे चाष्टौ गुणा इति नातिव्याप्तिः, तदा घ्राणादावव्याप्तेः । यत्तु षट्सङ्ख्यात्वं विवक्षितमिति तन्न, आकाश-दिगीश्वरेषु प्राणवायुद्वये च अतिव्याप्तेः ।

विमला—न्याय-वैशेषिक मत में इन्द्रिय को अतीन्द्रिय माना गया है ।

प्रमाणमञ्जरीकार ने इन्द्रिय का लक्षण करते हुये कहा है—'षड्गुणमप्रत्यक्षं साक्षात्कारप्रतीतिसाधनमिति सामान्यलक्षणम्' ।

शरीरादि पार्थिव द्रव्य षड्गुणों से युक्त हैं तथा साक्षात्कार प्रतीति के साधन भी हैं । अतः उनमें अतिप्रसक्ति के निरास के लिये लक्षण में अप्रत्यक्ष पद दिया है । साक्षात्व का अर्थ प्रत्यक्षत्व जातिरूप है, इसप्रकार प्रत्यक्षत्वजातिविशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन इन्द्रिय है—यही तात्पर्य है । प्रकृत में साक्षात्कार का अर्थ इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, अपितु साक्षात्त्वजातिविशिष्ट साक्षात्कार (प्रत्यक्षज्ञान) यही अर्थ है । कारण साक्षात्कार का अर्थ इन्द्रिजन्य ज्ञान करने पर एक तो व्यर्थता होगी, और दूसरा अन्योन्याश्रय दोष होगा । व्यर्थता इसलिये कि शास्त्र में यह नियम है कि यदि सरल-रीति से किसी सिद्धान्त या वस्तु आदि की उपपत्ति हो जाती है तो उसके उपपादन के लिये वक्ररीति का अवलम्बन उचित नहीं है, क्योंकि इससे गौरव होता है । अतः साक्षात्त्वजातिविशिष्ट साक्षात्कार (प्रत्यक्ष ज्ञान) इतना कथन ही अध्येताओं को समझाने के लिये जब पर्याप्त है, तब साक्षात्कार का अर्थ इन्द्रियजन्य ज्ञान तक खींच लेना व्यर्थ है, क्योंकि इसके अनेकपदार्थघटित होने से इसमें गौरव स्पष्ट है ।

इसी प्रकार प्रकृत में साक्षात्कार का अर्थ इन्द्रियजन्यज्ञान करने पर आत्माश्रय दोष भी होता है, कारण यह नियम है कि लक्षण-वाक्य में उसके लक्ष्य का समावेश उचित नहीं है, क्योंकि जिसकी अभी लक्षण द्वारा सिद्धि नहीं हुई है उसी को यदि उसके लक्षण-वाक्य में रखा जाय तो आत्माश्रय दोष स्पष्ट है। यह आत्माश्रय दोष उस स्थिति में होता है, जब किसी लक्षण का निर्वचन करने पर उसके ज्ञान में उसी लक्ष्य का ज्ञान अपेक्षणीय हो जाता है। जैसे यदि यह कहा जाय की "गौ से भिन्न में न रहनेवाली और सम्पूर्ण गौ में रहनेवाली जाति गौ का लक्षण है" तो इस लक्षण में आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि गौ के लक्षण में गौ का प्रवेश हो जाने से गौ के ज्ञान में गौ का ही ज्ञान अपेक्षणीय हो जाता है। फलतः अपेक्षणीय ज्ञान के अभाव में अपेक्षक ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता। यही आत्माश्रय दोष है। इसी को शास्त्रीय भाषा में 'स्वज्ञानसापेक्षज्ञानविषयत्वम् आत्माश्रयः'—'किसी वस्तु का अपने ज्ञान के लिये अपेक्षणीय ज्ञान का विषय हो जाना आत्माश्रय दोष है' इस प्रकार कहा गया है। प्रकृत में भी इन्द्रियलक्षण में प्रयुक्त 'साक्षात्कार' पद का इन्द्रियजन्य ज्ञान अर्थ करने पर इन्द्रियज्ञान के लिये इन्द्रिय-ज्ञान ही अपेक्षणीय हो जायेगा। इस प्रकार आत्माश्रय के बाद 'अन्योन्याश्रय', 'चक्रक' आदि सभी सम्भावित दोष एक के बाद एक उपस्थित हो जायेंगे। अतः साक्षात्कार का अर्थ साक्षात्त्वजातिविशिष्ट साक्षात्कार (प्रत्यक्ष ज्ञान) यही करणीय है। इससे व्यर्थता तथा आत्माश्रय दोनों दोष निरस्त हुये।

साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान-ज्ञानत्वव्याप्य[1] जातिविशिष्ट होने से साक्षात्कार (प्रत्यक्षज्ञान) भी ज्ञान का ही एक भेद-विशेष है, यह तो स्पष्ट ही है। अतः लक्षण में 'प्रतीति' पद का समावेश न करने पर भी अधिगम (अर्थबोध) में कोई हानि नहीं होती। अतः यहाँ 'प्रतीति' पद उपरञ्जनात्मक रूप से ही ग्रहणीय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि साक्षात्कारत्व जाति का जो अधिकरण प्रत्यक्षज्ञानात्मक साक्षात्कार उसी का साधन इन्द्रिय है—यही फलितार्थ हुआ। 'साक्षात्कारप्रतीतिसाधन' रूप उपयुक्त विशेषण परमाणु आदि में अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ है। 'आदि' पद से द्व्यणुक भी गृहीत है। कारण परमाणु तथा द्व्यणुक, रूप रसादि ६ गुणों से विशिष्ट तो है ही, यतः पार्थिव तथा जलीय परमाणु चौदह गुण से विशिष्ट हैं, तैजस परमाणु ग्यारह गुणों से एवञ्च वायवीय परमाणु नौ गुणों से विशिष्ट हैं। अतः सभी परमाणु षड्गुण-विशिष्ट तो हैं ही तथा अप्रत्यक्ष भी हैं, परन्तु परमाणु तथा द्व्यणुक-साक्षात्कार के प्रतीति के साधन न होने से 'साक्षात्कारप्रतीतिसाधनम्' पद से उनमें अतिव्याप्ति रुक जाती है।

काल तथा दिक् कार्यमात्र के सामान्य कारण होने से साक्षात्कार प्रतीति के भी कारण अवश्य होंगे। अतः उनमें अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'षड्गुण' पद समाविष्ट है। कारण काल तथा दिक् में संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग—ये पाँच हो सामान्य गुण हैं तथा विशेष गुण इनमें कोई नहीं है। अतः 'षड्गुणम्' पद से इनका निराकरण हो जाता है।

---

१. ज्ञानत्वव्याप्य जाति है प्रत्यक्षज्ञानत्व, उससे विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञान तो है ही।

'षड्गुणम्' का अर्थ गुणविभाजकोपाधिमत्त्व व गुणत्वव्याप्यजातिमत्त्व अर्थ करने पर परमात्मा (ईश्वर) में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि गुणविभाजक उपाधियाँ—रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व, स्पर्शत्व आदि हैं। ऐसी किन्हीं छः उपाधियों से युक्त अर्थ करने पर परमात्मा में अतिव्याप्ति होती है, कारण परमात्मा में गुणों को मानने में दो पक्ष हैं—एक तो परमात्मा में आठ गुण मानते हैं—ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग। कुछ लोग ज्ञान के अन्तर्गत ही इच्छा तथा प्रयत्न को अन्तर्भावित कर ईश्वर में छः ही गुण मानते हैं। अतः परमात्मा के छः गुण मानने वाले के पक्ष में—ज्ञानत्व, इच्छात्व आदि भी गुणविभाजकोपाधि हैं; अतः इन्द्रिय-लक्षण में प्रविष्ट 'षड्गुणम्' का अर्थ छः गुणविभाजकोपाधिविशिष्ट से युक्त करने पर परमात्मा के भी छः गुणविभाजकोपाधिविशिष्ट षड्गुण से युक्त होने से परमात्मा में अतिव्याप्ति होगी।

यह भी अर्थ नहीं कर सकते कि छः ही गुण हैं—इस प्रकार ईश्वर में तो अतिव्याप्ति नहीं होगी, कारण ईश्वर में कुछ लोग आठ गुण भी मानते हैं, अतः ईश्वर में छः ही गुण नहीं हैं, परन्तु तब घ्राणेन्द्रियादि जो चतुर्दशगुणविशिष्ट हैं, उनमें अव्याप्ति होगी। हाँ इतना तो अवश्य कह सकते हैं कि इन्द्रियाँ षड्गुणविशिष्ट हैं, कारण आकाश में संख्या—परिमाण—पृथक्त्व—संयोग—विभाग—ये पाँच सामान्य गुण तथा एक विशेषगुण शब्द—ये छः हैं। अतः अकाश-स्वरूप श्रोत्र में कम से कम उपर्युक्त छः गुण तो हैं ही। एवञ्च घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय क्रमशः पार्थिव तथा जलीय होने से चतुर्दशगुणविशिष्ट हैं; तैजसेन्द्रिय चक्षु एकादशगुणविशिष्ट तथा वायवीय त्वगिन्द्रिय नवगुणविशिष्ट हैं। अतः सभी इन्द्रियाँ कम से कम षड्गुणविशिष्ट तो अवश्य हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि छः ही गुण इन्द्रिय में है, क्योंकि घ्राणेन्द्रियादि में छः से अधिक गुण भी पाये जाते हैं। इस प्रकार छः ही गुणों से युक्त अर्थ करने पर लक्षण की घ्राणेन्द्रियादि में अव्याप्ति स्पष्ट है।

यदि आप यह कहें कि 'षड्गुणम्' पद से षट्संख्यात्व विवक्षित है—यह भी ठीक नहीं, कारण तब आकाश, काल, दिक्, ईश्वर तथा वायुद्वय इस प्रकार कुल मिलाकर छः होने से षट् संख्या पूर्ण हो जाती है। अतः 'षड्गुणम्' पद की उक्त आकाश, काल, दिक्, ईश्वर तथा वायुद्वय—इन छः द्रव्यों के सम्मिलित षट्संख्यात्व में अतिव्याप्ति होगी। इसी प्रकार उपर्युक्त 'षड्गुणम्' के अन्य भी अर्थ किये जा सकते हैं—जैसे 'षड्गुणम्' का यदि षड्गुणत्वविभाजकोपाधिमत्त्व अर्थ किया जाय तब रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व आदि गुणत्वविभाजक छः उपाधियों से युक्त होना—यही अर्थ होगा। अथवा 'षडेव गुणाः' कहने से एक ही गुण रूप के सजातीय गुण रक्त-नील-पीत-हरित-श्याम-कपिश आदि छः रूपों से युक्त होना यह भी अर्थ हो सकता है। 'षड्गुणम्' का गुण तथा अन्य पांच पदार्थों को मिलाकर भी षट्त्वसंख्या-रूप गुण से युक्त होना अर्थ हो सकता है।

ब० टी०—न चेन्द्रियत्वेन रूपेण षट्त्वं विवक्षितमिति वाच्यम्, आत्माश्रयात्, प्रकारान्तरस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च। तस्मात् षड्गुणमिति स्वरूपकथनमात्रम्। तस्मात्कालादावतिव्याप्तिवारणाय प्रकृतज्ञानकारणीभूतशरीरनिष्ठसंयोगाश्रयत्वं विवक्षितम्। न च प्राणवायावतिव्याप्तिः, अप्रत्यक्षपदेन त्वग्ग्राह्यगुणवत्त्वराहित्यस्य विवक्षितत्वात्।

विमला—यदि चक्षुरादि इन्द्रियाँ पाँच तथा मनसहित छः इस प्रकार इन्द्रियत्वेन षट्त्व-संख्या कहा जाय तो पुनः आत्माश्रय दोष होगा, क्योंकि इन्द्रियाँ अभी लक्ष्यकोटि में ही हैं। लक्ष्य कभी अपना लक्षण नहीं हो सकता। 'षड्गुणम्' का और अन्य कोई अर्थ भी नहीं हो सकता। अतः 'षड्गुणम्' इन्द्रियों का लक्षण नहीं, अपितु स्वरूपकथनमात्र हो सकता है। जैसे किसी बालक को यदि कहा जाय—गोशाला में से काली गाय ले आओ, तब वह बालक ठीक काली गाय ही ले आता है, प्रकृत में उस गाय की श्यामता तो गाय का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि श्यामता से अतिरिक्त भी अन्य अनेक वर्ण की गाय हैं। एवञ्च अन्य अनेक श्याम गाय भी हो सकती हैं। अतः श्यामता उस गाय का स्वरूपकथनमात्र है। इसप्रकार यहाँ 'षड्गुणम्' पद इन्द्रियों का लक्षण नहीं, अपितु स्वरूपकथनमात्र है।

अब पुनः प्रश्न उठ सकता है कि प्रत्यक्षज्ञान के कारणीभूत कालादि में अतिव्याप्ति-निवारण के लिये ही आपने लक्षण में 'षड्गुणम्' पद रखा था। अब उसे लक्षणकोटि में न मानने पर पुनः कालादि में अतिव्याप्ति होगी, यतः कालादि कार्यमात्र के कारण होने से हम जीवों के साक्षात्कार के भी कारण होंगे। अतः इस अतिव्याप्ति के निरास के लिये ही टीकाकार बलभद्र मिश्र इन्द्रिय का लक्षण इसप्रकार करते हैं—प्रकृतज्ञान अर्थात् साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) ज्ञान का कारणीभूत जो आत्ममनःसंयोग, वह संयोग पुनः इन्द्रियों के माध्यम से शरीर के साथ भी युक्त होता है। अतः उस शरीरनिष्ठ संयोग का एक आश्रय तो शरीर तथा दूसरा आश्रय इन्द्रिय ही होगा। अतः प्रत्यक्षज्ञानकारणीभूत शरीरनिष्ठसंयोग का जो आश्रय है वही इन्द्रिय है।

प्रत्यक्षज्ञान का एक कारण प्राणवायु भी है, क्योंकि प्राणवायु के न रहने पर मृत शरीरेन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का होना असंभव है। इस प्रकार प्राणवायु में अतिप्रसंग होता, अतः इन्द्रिय-लक्षण में प्रविष्ट 'अप्रत्यक्ष' पद का अर्थ त्वक्-ग्राह्य गुणवत्त्वराहित्य विविक्षित है। त्वक्-ग्राह्य गुणवत्त्वराहित्य का अर्थ है जिसका गुण (स्पर्श) त्वचा (त्वगिन्द्रिय) से ग्राह्य न हो। प्राणवायु का विशेष गुण तो स्पर्श है ही। प्राणवायु अप्रत्यक्ष तथा साक्षात्कार-प्रतीति का साधन (प्रत्यक्षज्ञान का कारण) भी है। परन्तु अप्रत्यक्ष का उपर्युक्त अर्थ करने पर उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि प्राण वायु का विशेष गुण स्पर्श त्वगिन्द्रिय से तो ग्राह्य है ही, जबकि इन्द्रियों के अति सूक्ष्म होने से उनके रूप, रस, स्पर्शादि गुण अनुद्भूत होने से त्वगादि से ग्राह्य नहीं

हैं। अतः 'अप्रत्यक्ष' पद का अर्थ इन्द्रिय-लक्षण की दृष्टि से त्वचा से ग्राह्य गुणों से राहित्य स्वीकरणीय है।

ब० टी०——न चात्मन्यतिव्याप्तिः। न चाप्रत्यक्षपदेन लौकिकप्रत्यासत्या मनोग्राह्यगुणवत्त्वराहित्यं विवक्षितम्, शरीरप्राणवाय्वादावतिव्याप्तेः। न चाप्रत्यक्षपदेन मनोग्राह्यगुणवत्त्वराहित्ये सति त्वग्ग्राह्यगुणवत्त्वराहित्यं विवक्षितम्, परिमाणगोचरसाक्षात्प्रतीतिसाधनेन्द्रियावयवेऽतिव्याप्तेः। न चेन्द्रियावयवसंयोगस्य विषयावयवादिनिष्ठस्य परिमाणग्रहं प्रति कारणतैव नास्ति, दूरे परिमाणाग्रहस्तु दूरत्वदोषवशादिति वाच्यम्, तथापि शरीरनिष्ठेन्द्रियसंयोगस्याजनकतयासम्भवापत्तेः, इन्द्रियतदधिष्ठानसंयोगस्यैव तज्जनकत्वात्।

विमला—आत्मा में भी त्वचा से ग्राह्य गुण स्पर्श का अभाव है। आत्मा प्रत्यक्षज्ञान का कारण तथा अप्रत्यक्ष भी है। अतः उसमें अतिप्रसक्ति स्पष्ट है। अतएव आत्मा में इन्द्रियलक्षण को प्रसक्ति के निरास के लिए यदि 'अप्रत्यक्ष' पद का लौकिक प्रत्यासत्ति[1] से मनोग्राह्य गुणवत्त्वराहित्य अर्थ किया जाय, अर्थात् जिसके गुणों का लौकिक दृष्टि से मानस प्रत्यक्ष न हो तो इस प्रकारका अर्थ करनेपर आत्मा में अतिव्याप्ति रुक जाती, कारण आत्मा में वर्तमान ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि विशेष गुणों का लौकिक दृष्टि से मानसप्रत्यक्ष तो होता ही है, परन्तु इन्द्रिय के किसी भी रूप, रसादि गुणों का लौकिक दृष्टि से मानस प्रत्यक्ष नहीं होता, अलौकिक दृष्टि से तो मनोग्राह्य सभी गुण होते हैं। इसीलिये 'लौकिकप्रत्यासत्ति' पद रखा गया है। अतः इन्द्रियों में वर्तमान गुणों का लौकिक प्रत्यासत्ति से मानसप्रत्यक्ष न होने से इन्द्रियलक्षणप्रविष्ट 'अप्रत्यक्ष' पद का अर्थ लौकिकप्रत्यासत्या मनोग्राह्यगुणवत्त्वराहित्य करना चाहिये। आत्मा के गुणों के अतिरिक्त और कोई भी गुण लौकिक प्रत्यासत्ति से मनोग्राह्य नहीं होता। अतः 'अप्रत्यक्ष' पद का अर्थ लौकिकप्रत्यासत्ति से मनोग्राह्यगुणवत्त्वराहित्य करने से आत्मा में अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता, परन्तु पुनः शरीर तथा प्राणवायुके भी साक्षात्कार के साधन होने से तथा इनके गुणके भी लौकिक प्रत्यासत्ति से मनोग्राह्य नहीं होने से शरीर तथा प्राणवायु में भी लौकिक प्रत्यासत्या मनोग्राह्यगुणवत्त्वराहित्य है। इस प्रकार अतिव्याप्ति स्पष्ट है। यदि इस अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'अप्रत्यक्ष' पद का अर्थ एक साथ मनोग्राह्य गुणस्वराहित्य (मन से ग्राह्य गुणों से रहित होना, अर्थात् जिसके गुण मन के द्वारा गृहीत न हो) तथा त्वग्ग्राह्यगुणवत्त्वराहित्य (जिसके गुणों का त्वचा से ग्रहण न हो) इस प्रकार किया जाय तो—यह भी ठीक नहीं। कारण यद्यपि

---

१. लौकिक प्रत्यासत्ति का अर्थ है हम जीवों का इन्द्रियों के साथ विषयों का लौकिक सन्निकर्ष।

इस प्रकार का अर्थ करने पर प्राणवायु, शरीर तथा आत्मा आदि में इन्द्रिय-लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि प्राणवायु तथा शरीर में मनोग्राह्यगुणवत्त्वराहित्य नहीं है, अपितु शरीर तथा प्राणवायु त्वचा से ग्राह्य गुण स्पर्श से विशिष्ट ही हैं। आत्मा में मनोग्राह्य गुण ज्ञानादि के रहने पर भी त्वग्ग्राह्यगुण (स्पर्श) नहीं है। परन्तु इन्द्रियों में मनोग्राह्यगुणवत्त्वराहित्य तथा त्वग्ग्राह्यगुणवत्त्वराहित्य दोनों हैं। इस प्रकार शरीर, प्राणवायु तथा आत्मा में इन्द्रिय-लक्षण का अतिप्रसंग नहीं होता। परन्तु परिमाणादि के साक्षात्कार के साधन इन्द्रियावयव में अतिव्याप्ति होती है। कारण इन्द्रियावयव में भी मनोग्राह्यगुणवस्त्वराहित्य तथा त्वग्ग्राह्यगुणवत्त्वराहित्य दोनों हैं। यतः मनोग्राह्यगुण केवल आत्मा में है अतः मनोग्राह्यगुण इन्द्रियों में भी नहीं है एवं इन्द्रियावयव में भी नहीं।

एवञ्च इन्द्रियावयव के अतिसूक्ष्म होने के कारण उनका स्पर्शादि गुण त्वग्ग्राह्य भी नहीं है। इन्द्रियावयव साक्षात्कार प्रतीति के साधन तो हैं ही, क्योंकि किसी मकान के एक अंश के साथ सर्वप्रथम हमारे इन्द्रियावयवों का संयोग होता है जो कि उस मकान के आंशिक परिमाण का बोध कराता है। तत्पश्चात्—सम्पूर्ण मकान के साथ हमारे इन्द्रियों का संयोग होता है। तदनन्तर उस मकान के परिमाण का हमें पूर्णतः बोध होता है—यही प्राचीन नैयायिकों का विषयावयवों के साथ इन्द्रियावयवों का सन्निकर्ष मानने का अभिप्राय है। इस प्रकार इन्द्रिय-लक्षण की इन्द्रियावयव में अतिव्याप्ति स्पष्ट है।

प्राचीन नैयायिक षट् सन्निकर्ष से अतिरिक्त अन्य चार सन्निकर्ष भी मानते हैं, जैसे—

(१) इन्द्रियावयवों के साथ अर्थावयवों का,
(२) इन्द्रियावयवियों के साथ अर्थावयवियों का,
(३) इन्द्रियावयवियों के साथ अर्थावयवों का तथा
(४) अर्थावयवियों के साथ इन्द्रियावयवों का।

जैसा कि ऊपर कहा गया है द्रव्य के परिमाण आदि के ज्ञान में इन्द्रियावयवों का अर्थावयवों के साथ सन्निकर्ष होना अनिवार्य है। इस मत के विरुद्ध यदि पूर्वपक्षी यह कहें कि इन्द्रियावयव-सन्निकर्ष की विषयावयवादिनिष्ठ परिमाणादि के ग्रहण के प्रति कारणता ही नहीं है, कारण दूरस्थित सूर्य आदि का महत्परिमाणविशिष्ट होने पर भी दूर के कारण ही उसके परिमाण का यथार्थ ग्रहण नहीं होता। अतः इन्द्रियावयव के साथ विषयावयव के सन्निकर्ष की कोई आवश्यकता ही नहीं, इन्द्रियसन्निकर्ष से ही काम हो जाता है—यह कहना भो उचित नहीं, कारण हस्त वृक्ष-संयोग के जनक अंगुली-वृक्ष-संयोग के समान शरीरनिष्ठ इन्द्रिय-संयोग का भी जनक इन्द्रियावयवों का शरीरावयवों के साथ संयोग ही होगा। इसीप्रकार इन्द्रिय-विषय संयोग का जनक इन्द्रियावयव तथा विषयावयव का संयोग ही होगा। अतः परम्परया इन्द्रियावयव भी साक्षात्कार के प्रति कारण होते हैं। इसप्रकार पूर्वोक्त अतिव्याप्ति ज्यों की त्यों बनी रहती है।

ब० टी०—अत्राहुः—शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रयत्वस्य स्मृत्यजनकज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रयत्वस्य वेन्द्रियत्वस्य विवक्षितत्वान्नोक्तदोष इति।

विमला—इन्द्रिय-लक्षण में प्रविष्ट 'अप्रत्यक्ष' पद का कोई यथार्थ अर्थ निश्चित नहीं होने से तथा उपर्युक्त सभी अर्थके अतिव्याप्तिदोष से दुष्ट होनेसे टीकाकार बलभद्रमिश्र ने इन्द्रिय का उपर्युक्त लक्षण किया है। शब्द से अतिरिक्त उद्भूत विशेषगुण[1] का जो अनाश्रय हो तथा ज्ञानकारणीभूत मनस्ससंयोग का आश्रय हो, वही इन्द्रिय है। तात्पर्य यह है कि शब्द से अतिरिक्त जो उद्भूत विशेष गुण हैं उनका इन्द्रिय आश्रय नहीं होती, क्योंकि इन्द्रियाँ अतिसूक्ष्म हैं। अतः उनके गुण भी उद्भूत नहीं है।

आत्मा में अतिव्याप्ति के निरास के लिये इन्द्रिय-लक्षण में 'उद्भूतविशेषगुण का अनाश्रय' पद रखा गया है। जब कि आत्मा उद्भूत विशेष गुण का आश्रय है, अनाश्रय नहीं। श्रोत्रेन्द्रिय में अव्याप्ति के निराकरणार्थ 'शब्देतर' पद सन्निविष्ट है, क्योंकि शब्द उद्भूत ही होता है। घ्राणादि में अव्याप्ति के वारण के लिये 'उद्भूत' पद का समावेश किया है, यतः घ्राणादि विशेष गुण का आश्रय तो है, किन्तु उद्भून विशेषगुण का आश्रय नहीं। शब्द से अतिरिक्त उद्भूत गुण संयोगादि सामान्य गुण तो इन्द्रिय में रहते ही हैं। अतः 'विशेषगुण' पद समाविष्ट है। कालादि में अतिव्याप्ति के निषेध के लिये 'ज्ञानकारणीभूतमनस्संयोग का आश्रय' यह पद लक्षणमें प्रविष्ट है, क्योंकि कालादि का जो मन के साथ संयोग होता है, वह ज्ञानकारणीभूत नहीं है। मन के साथ संयोग तो कालादि का विभु होने से होता ही है, 'सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम् विभुत्वम्' के अनुसार। परन्तु वह संयोग ज्ञानकारणीभूत नहीं है। कालादि में जो उद्भूत रूप का अभाव है उसका प्रत्यक्ष चक्षु से ही होगा,[2] चक्षुःसंयुक्तविशेषणतासन्निकर्ष से; चक्षु का संयोग काल से होगा, उसमें रूपाभाव विशेषण रूप से है। इस चक्षुःसंयोग के आश्रय काल तथा चक्षु दोनों हैं, कारण चक्षु का काल के साथ संयोग होता है। एवञ्च यह चक्षु-काल-संयोग काल में जो रूपाभाव है, उसके प्रत्यक्षज्ञान के प्रति कारण भी है। अतः इन्द्रिय-लक्षण में 'मनस्संयोग' पद का समावेश हुआ है।

टीकाकार बलभद्र मिश्र इन्द्रिय का द्वितीय लक्षण करते हुये कहते हैं—जो स्मृति का अजनक हो तथा प्रत्यक्षज्ञानकारणीभूतमनस्संयोग का आश्रय हो वही

---

१. "रूपं गन्धो रसः स्पर्शः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः।
बुद्ध्यादिभावनान्ताश्च शब्दो वैशेषिको गुणाः॥
अर्थात् रूप-रसादि चौबीस गुणों में—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा भावना-संस्कार ये विशेष गुण हैं। शेष सामान्य गुण हैं।

२. यह नियम है कि जो गुण जिस इन्द्रिय से ग्राह्य होता है, उसका अभाव तथा उसकी जाति भी उसी इन्द्रिय से ग्राह्य होती हैं।

इन्द्रिय है; क्योंकि मन तथा इन्द्रिय के संयोग का एक आश्रय मन तथा दूसरा आश्रय इन्द्रिय ही है। एवञ्च "स्मृति के अजनक" पदों से आत्मा का निरास हो जाता है, कारण आत्मा स्मृति का भी जनक है, अजनक नहीं।

इस लक्षण की अतिव्याप्ति इन्द्रियावयव में भी नहीं होती, क्योंकि इन्द्रियावयव एवं विषय का संयोग यद्यपि प्राचीन मत में परिमाणादिप्रत्यक्ष का कारण है, तथापि इन्द्रियावयव एवं मन का संयोग वैसा नहीं है। अतः मनःसंयोग का यदि इन्द्रियावयव आश्रय हो, तो भी उस संयोग के 'ज्ञानकारणीभूत' न होने से अतिव्याप्ति नहीं होती।

पार्थिवमिन्द्रियं तत्प्रमाणञ्च

गन्धवदिन्द्रियं घ्राणम्। तत्र प्रमाणम्—पार्थिवाः परमाणवः पारम्पर्येणेन्द्रियारम्भकाः, स्पर्शवत्परमाणुत्वात्, तेजःपरमाणुवदिति।

भाषाटीका—गन्धवान् इन्द्रिय घ्राणेन्द्रिय है। उसमें अनुमान प्रमाण इस प्रकार है—पार्थिवपरमाणु परम्परया (द्व्यणुक त्र्यणुकादि की परम्परा से) इन्द्रियारम्भक हैं स्पर्शयुक्त परमाणु होने से, तैजस परमाणु के समान।

ब० टी०—गन्धवदिति। घटादावतिव्याप्तिं वारयितुम् इन्द्रियमिति। रसनादावतिव्याप्तिवारणाय गन्धवदिति। पार्थिवा इति। मनसि बाधवारणाय जलपरमाणौ सिद्धसाधनवारणाय पार्थिवा इति। घटादौ बाधवारणाय अणव इति। द्व्यणुके बाधवारणाय परमेति। साक्षादारम्भकत्वे बाधवारणाय पारम्पर्येणेति! घटादिजनकत्वेनार्थान्तरवारणाय इन्द्रियेति। मनोद्व्यणुकघटेषु व्यभिचारवारणाय क्रमेण हेतुविशेषणानि। तेजः परमाणोरिन्द्रियारम्भकत्वमागमिकम्।

विमला—प्रमाणमञ्जरीकार अपनी वर्णनशैली के अनुसार इन्द्रिय-सामान्य के लक्षण के बाद इन्द्रिय-विशेष (घ्राणेन्द्रिय) का लक्षण करते हुए कहते हैं—"गन्धवदिन्द्रियं घ्राणम्"।

उपर्युक्त पार्थिवेन्द्रिय लक्षण की गन्धविशिष्ट पार्थिव घटादि में अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ लक्षण में 'इन्द्रिय' पद का समावेश किया गया है। रसनादि भी इन्द्रिय है, अतः उनमें अतिप्रसक्ति के निरास के लिए 'गन्धवत्त्व' पद समाविष्ट है।

घ्राणेन्द्रिय की सिद्धि में प्रमाणमञ्जरीकार अनुमानप्रमाण का उपन्यास करते हैं—"पार्थिवाः परमाणवः पारम्पर्येणेन्द्रियारम्भकाः, स्पर्शवत्परमाणुत्वात् तेजःपरमाणुवत्"।

कुछ लोग मन का परिमाण भी अणु होने से मन को परमाणुस्वरूप मानते हैं, परन्तु मन में इन्द्रियारम्भकत्वरूपसाध्य नहीं है अतः उसमें बाध के निषेध के लिए तथा जलपरमाणु आदि के इन्द्रियारम्भकत्व सिद्ध होने से अंशतः सिद्धसाधनरूप दोष के निवारण के लिए उक्त पार्थिवेन्द्रियसाधक अनुमान के पक्ष में 'पार्थिव' पद रखा गया है। घटादि भो पार्थिव हैं परन्तु उनमें इन्द्रियारम्भकत्व न होने से बाध के निषेधार्थ 'अणु' पद समाविष्ट है।

नष्ट द्व्यणुक तथा अन्य पदार्थों के आरम्भक द्व्यणुक में इन्द्रियारम्भकत्व न होने से उसमें बाधवारण के लिए 'परम' पद रखा गया है। साक्षात् आरम्भक अर्थात् सीधे परमाणु से इन्द्रिय की उत्पत्ति मानने पर कम से कम दो परमाणुओं से (अर्थात् द्व्यणुक से) उत्पत्ति माननी पड़ेगी। किन्तु वैसा मानने पर चक्षुरादि इन्द्रियों का दूरस्थ विषय तक सम्प्रसारण सम्भव नहीं होगा भले ही उसका रूप न दिखाई देता हो। परममहत्परिमाण-सम्पन्न आकाशादि भी चक्षुरादि से अप्रत्यक्ष ही हैं। यतः किसी भी द्रव्य के प्रत्यक्ष में उस द्रव्य का उद्भूत रूप तथा महत्परिमाणविशिष्ट होना आवश्यक है अतः इन्द्रिय का दूरस्थ विषय के साथ सन्निकर्ष की उपपत्ति के लिए इन्द्रिय को महत्परिमाणसम्पन्न होना अनिवार्य है। इन्द्रिय का अप्रत्यक्षत्व तो उसके उद्भूतरूपादि के अभाव के कारण ही सिद्ध है। इस प्रकार इन्द्रिय को महत्परिमाणसम्पन्न मानने पर इन्द्रिय की उत्पत्ति द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि क्रम से ही माननी होगी। इसीलिए उक्त अनुमान में 'पारम्पर्यण, पद का समावेश हुआ है। घटादि भी पार्थिव परमाणुओं से उत्पन्न हैं। अतः पार्थिव परमाणु घटादि के आरम्भक तो हैं ही। अतः अर्थान्तर या सिद्धसाधन दोष के निषेध के लिए 'इन्द्रियारम्भकत्व' पद का समावेश हुआ है।

मन, द्व्यणुक एवं घट में व्यभिचार के निषेध के लिए क्रमशः हेतु में 'स्पर्शवत्परमाणु' पद सन्निविष्ट हैं। किसी-किसी के मत में मन के भी परमाणुस्वरूप होने से उसमें 'इन्द्रियारम्भकत्व' रूप साध्य का अभाव होने से साध्याभावविशिष्ट मन में व्यभिचार के निरासार्थ हेतु में स्पर्शवत् पद का समावेश है। कारण मन में स्पर्श नहीं है। नष्ट द्व्यणुक तथा अन्यपदार्थारम्भक द्व्यणुक अणुपरिमाणविशिष्ट है, परन्तु उसमें उक्त साध्य का अभाव होने से उस द्व्यणुक में व्यभिचार-वारण के लिए 'परम' पद है। घटादि में व्यभिचार-निराकरणार्थ 'अणु' पद समाविष्ट है। अर्थात् केवल 'स्पर्शवत्परमत्वात्' कहने पर स्पर्शवान् महत्परिमाणविशिष्ट घटादि में व्यभिचार होता अतः 'अणु' पद रखा गया है। यतः घटादि स्पर्शवान् तथा महत्परिमाणसम्पन्न होने से 'परम' होने पर भी अणु नहीं है अतः दृष्टान्तासिद्धिरूप दोष भी नहीं है। तेजःपरमाणु का 'इन्द्रियारम्भकत्व' आगम प्रमाण से सिद्ध है।

विषयलक्षणं पार्थिवविषयश्च

स्पर्शवान् शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तः कार्यजातो विषय इति सामान्यलक्षणम्। गन्धवान् विषयः पार्थिवो विषयः। स चेष्टकादिः प्रत्यक्षसिद्धः।

सा चतुर्दशगुणवती। एवमुत्तरत्र सामान्यलक्षणानुवृत्तौ पदान्तरानुगमेन तत्तत्परमाण्वादीनां लक्षणानि भवन्ति।

भाषाटीका—जो स्पर्शवान् हो तथा शरीर एवं इन्द्रिय से भिन्न हो अथच, कार्य से उत्पन्न हो वही 'विषय' है। अथवा 'कार्यजातः' का 'कार्यजातं' (कार्यसमूह) अर्थ भी किया जा सकता है। अतः यही विषय का सामान्य लक्षण है। गन्धयुक्त विषय पार्थिव विषय है, वह ईंट आदि के रूप से प्रत्यक्ष-सिद्ध है। पृथिवी चतुर्दश (१४) गुणविशिष्ट है। इस प्रकार उत्तरोत्तर का सामान्यलक्षण करने के बाद पदान्तरों के अनुगम से उनके परमाणु आदि के लक्षण बनते हैं। जैसे 'स्नेहवान् परमाणु जल-परमाणु है'।

ब० टी०—स्पर्शवानिति। गुणकर्मादावतिव्याप्तिवारणाय स्पर्शवानिति। शरीरेन्द्रिययोरतिव्याप्तिवारणाय व्यतिरिक्त इत्यन्तम्। परमाण्वादावतिव्याप्तिभङ्गाय जात इति उत्पन्न इत्यर्थः। द्व्यणुकेऽतिव्याप्तिवारणाय कार्यजात इत्युक्तम्। कार्यसमवेत इत्यर्थः। अत्र शरीरादिव्यतिरिक्त एव विषयो लक्ष्यः गन्धवानिति। जलादिविषयेऽतिव्याप्तिवारणाय गन्धवानिति। पार्थिवशरीरादावतिव्याप्तिवारणाय विषय इति। एवमिति सामान्यलक्षणं परमाणुत्वादिकम्, पदान्तरं स्नेहवत्त्वादिकम्। तथा च स्नेहवान् परमाणुर्जलपरमाणुरित्यादिलक्षणानि ज्ञेयानीत्यर्थः।

विमला—प्रमाणमञ्जरीकार अनित्य पृथिवी के तृतीयभेदरूप 'विषय' की परिभाषा करते हुए कहते हैं—

"स्पर्शवान् शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तः कार्यजातो विषयः।"

उपर्युक्त लक्षण में 'कार्यजातः' पद में 'कार्यात् जातः = कार्यजातः' पञ्चमीतत्पुरुष समास है। अतः "शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तः कार्यजातो विषयः" मात्र कहने पर गुण, कर्मादि में अतिव्याप्ति होगी। कारण अनित्य गुण तथा कर्म तो कार्यजात ही हैं अर्थात् कार्य से उत्पन्न है। घट के रूप का कारण कपाल-रूप, वह भी अपने अवयव-गत रूप से ही उत्पन्न हैं। अतः कपाल का रूप भी कार्य है। कर्म तो कार्य से उत्पन्न है ही। अतः 'कार्यजातो विषयः' मात्र कहने पर हस्तादि की क्रिया में व्यभिचार होगा तथा गुण एवम् कर्म शरीरेन्द्रिय से अतिरिक्त पदार्थ भी हैं अतः उनमें अतिव्याप्ति होती; अतः "स्पर्शवान्" पद के समावेश से, 'गुण में गुण नहीं होते' इस नियम से किसी भी गुण में गुण के अभाव होने से स्पर्श में भी स्पर्श नहीं होगा। कर्म में भी स्पर्शादि सभी गुणों का अभाव ही है। अतः 'स्पर्शवान्' पद से गुण, कर्मादि में अतिव्याप्ति निरस्त हो जाती है।

शरीर तथा इन्द्रिय भी स्पर्शवान् हैं एवं (द्वयणुक, त्र्यणुक आदि अवयवों से उत्पन्न होने से) कार्यंजात भी है, अतः उनमें अतिप्रसङ्ग के परिहारार्थं 'शरीरेन्द्रिय-व्यतिरिक्तः' पद का समावेश है। स्पर्शवान् शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्त परमाणु भी है। अतः उसमें अतिव्याप्ति के निषेध के लिए 'जातः' पद है। परमाणु नित्य होने से उत्पत्तिशील द्रव्यों के अन्तर्गत नहीं आते।

न्याय-वैशेषिकों में दो पक्ष हैं—एक तो द्वयणुक को विषयकोटि में ही मानते हैं, दूसरे द्वयणुक को विषय से भिन्न मानते हैं। जो द्वयणुक को विषय से भिन्न मानते हैं, उनकी दृष्टि में (स्पर्शवान् शरीरेन्द्रियव्यतिरिक्तो जातो विषयः) इतना कहने पर द्वयणुक में अतिव्याप्ति होगी, परन्तु 'कार्यंजातः' कहने पर द्वयणुक के कार्य से उत्पन्न-न होने से, अपितु नित्य परमाणु से उत्पन्न होने से उक्त अतिव्याप्ति नहीं होती।

'कार्यंजातः' पद का अर्थ करते हुए टीकाकार कहते हैं—कार्य में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले द्रव्य ही विषय हैं।

यद्यपि सातो पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म आदि ज्ञान का विषय होने से विषयपदवाच्य हैं, तथापि प्रकृत में विषय का अर्थं शरीर तथा इन्द्रिय से अतिरिक्त केवल पार्थिव, जलीय आदि अचेतन पदार्थरूप संकुचित अर्थं किया गया है। शरीरेन्द्रिय की अचेतन टेबुल-कुर्सी आदि पदार्थों से भिन्नता स्पष्ट है। प्रमाणमञ्जरीकार ने पार्थिवविषय का लक्षण इस प्रकार किया है—'गन्धवान् विषयः स चेष्टकादिः प्रत्यक्षसिद्धः'।

जलादि विषयों में अतिव्याप्ति के निषेध के लिए 'गन्धवान्' पद समाविष्ट है। पार्थिव शरीर आदि में अतिव्याप्ति के निषेध के लिए 'विषय' पद का समावेश किया गया है।

पृथिवी के गुण—

पृथिवी के गुणों का उल्लेख करते हुए प्रमाणमञ्जरीकार कहते हैं—"सा चतुर्दशगुणवती" अर्थात् पृथिवी चतुर्दशगुणविशिष्ट है।

पृथिवी के विशेषगुण—

(१) गन्ध (सुरभि तथा असुरभि), (२) स्पर्श (पाकज अनुष्णाशीतस्पर्श), (३) रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त), (४) रूप (शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र–सप्तविध)। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पृथिवी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—ये चारों विशेषगुण पाकज[1] तथा अनित्य होते हैं।

---

१. पाकज—विलक्षण तेज के संयोग से पृथिवी के रूप रस, गन्ध तथा स्पर्श परिवर्तित होते हैं।

सामान्य गुण—

(५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथक्कत्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) संस्कार (वेग तथा स्थितिस्थापक), (१४) द्रवत्व।

प्रमाणमञ्जरीकार ने परमाणु आदि के सामान्य लक्षणों को विशेष लक्षण में परिवर्तित करने की शैली का उपपादन करते हुए कहा है—

"एवमुत्तरत्र सामान्यलक्षणानुवृत्तौ पदान्तरानुगमेन तत्तत्परमाण्वादीनां लक्षणानि भवन्ति'। अर्थात् इसी प्रकार जलीय परमाणु आदि के सामान्य लक्षण में 'स्नेहवत्त्व' आदि पदान्तरों के अध्याहार से ही जल, तेज आदि परमाणु के लक्षण हो जाते हैं। जैसे –"गन्धवान् परमाणुः पार्थिवः परमाणुः—गन्धविशिष्टपरमाणु पार्थिव परमाणु है" यह पार्थिव परमाणु का लक्षण हुआ, उसी प्रकार "स्नेहवान् परमाणुः जलपरमाणुः—स्नेहवान् परमाणु जलपरमाणु है।" इसी प्रकार अध्येताओं के अधिगम हेतु तेज आदि परमाणु के लक्षण भी बनाये जा सकते हैं।

जललक्षणम् तद्विभागश्च

स्नेहवदम्भः। नित्यमनित्यञ्चेति। पूर्वं परमाणुरूपम्। उत्तरं द्वेधा-नित्यसमवेतम् अन्यथा चेति। पूर्वं द्वयणुकम्। अप्त्वं नित्यसमवेतवृत्ति, सरित्समुद्रजातित्वात् सत्तावदिति परमाणुद्वयणुकयोस्सिद्धिः। उत्तरं शरीरादिभेदेन त्रेधा।

भाषाटीका—स्नेहवान् द्रव्य जल है। वह नित्य तथा अनित्य रूप से दो भागों में विभक्त है। प्रथम तो परमाणुरूप है। द्वितीय का पुनः दो भाग किया जाता है—(१) नित्यपरमाणु में समवेत द्वयणुक। (२) अनित्य द्वयणुकादि में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले त्र्यणुकादि। अप्त्व नित्य (परमाणुओं में) समवेत जलीय पदार्थ में विद्यमान है, सरित्, समुद्र में रहने वाली जाति होने से, सत्ता के समान। इस प्रकार जलीय परमाणु तथा द्वयणुक की सिद्धि होती है।[1] अनित्यजल के जो दो भेद किये गये थे नित्यसमवेत तथा अनित्यसमवेत रूप से उनमें से अनित्यसमवेत जल शरीर, इन्द्रिय तथा विषय भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

---

१. तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सत्ता सरित्-समुद्रादि में रहने के साथ-साथ नित्य आकाशादि में समवेत शब्दादि गुणों में भी रहती है, उसी प्रकार अप्त्व जाति भी सरित्, समुद्र में रहने से सरित्-समुद्र के साथ-साथ किसी नित्य-समवेत पदार्थ में भी अवश्य विद्यमान है। इस प्रकार जलीय परमाणु तथा द्वयणुक की सिद्धि हुई। पार्थिव परमाणु तथा द्वयणुक की सिद्धि के समान ही जलीय परमाणु तथा द्वयणुक की सिद्धि भी

ब० टी०—सरित्त्वसमुद्रत्वयोर्व्यभिचारवारणाय जातीति । जातेस्सरित्समुद्रयोर्वृत्तिर्विवक्षिता । सरित्समुद्रनिष्ठद्वित्वान्यतरत्वादौ व्यभिचारवारणाय जातित्वादिति । साध्यकृत्तं तदर्थश्च पूर्ववत् ।

विमला—उपर्युक्त जलीय परमाणु तथा द्व्यणुक के साधक अनुमान के हेतु में केवल जातिपद के देने से 'सरित्व', 'समुद्रत्त्व' आदि जातियों को लेकर हेतु का व्यभिचार होता, क्योंकि सरित्त्व, समुद्रत्व भी जाति हैं, परन्तु सरित्त्व, समुद्रत्व जाति का क्रमशः सरित् तथा समुद्र में वृत्तित्व है, नित्यसमवेत द्व्यणुक में वृत्तित्व नहीं है। अतः 'सरित्समुद्रजातित्वात्' यह हेतु कहा गया है। सरित् तथा समुद्र दोनों में रहने वाली जाति अप्त्व या सत्ता ही होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रकृत में टीकाकार ने सरित्त्व तथा समुद्रत्व को भी जाति ही माना है, उपाधि नहीं। हेतु में केवल 'सरित् समुद्रवृत्तित्वात्' कहने पर द्वित्व संख्या जो सरित् तथा समुद्र दोनों में वर्तमान हैं, उस द्वित्व संख्या में तथा दोनों में विद्यमान अन्यतरत्व आदि धर्मों में व्यभिचार होता। अतः इस व्यभिचार के निरास के लिये हेतु में 'जातित्वात्' पद का समावेश किया गया है। इस अनुमान के साध्य का परिष्कार पार्थिव परमाणु तथा द्व्यणुक के साधक अनुमान के साध्य के पदकृत्य के समान ही है।

इस प्रकार जलीय परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि हुई।

परिशेषानुमान तथा पक्षधर्मताबल से ही की गई हैं। परिशेषानुमान यही है कि यतः सामान्य केवल द्रव्य, गुण तथा कर्म-इन तीन पदार्थों में ही समवेत रहता है अतः अप्त्व भी सामान्य का ही एक प्रकार विशेष होने से अप्त्व के (जबतक निराकरण नहीं किया जाता है तब तक) नित्य समवेत द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों में वृत्तित्व की सम्भावना बनी रहती है। परन्तु अप्त्व नित्य-समवेत गुण, कर्म में नहीं रह सकता, कारण गुण में गुणत्व, रूपत्व आदि सामान्य तो हैं, परन्तु अप्त्व नहीं, इसी प्रकार कर्म में भी कर्मत्व सामान्य तो है; परन्तु अप्त्व नहीं। अतः अप्त्व गुण तथा कर्म में नहीं रहा। इस प्रकार अप्त्व सामान्य केवल द्रव्य में रहता है। अन्ततः अन्य आठ द्रव्यों के भी निरास हो जाने से, अप्त्व सामान्य का केवल जलीय द्रव्य में ही अस्तित्व है—यह सिद्ध हुआ। अब जब अप्त्व जाति स्थूल जलीय द्रव्य में रहेगी तो उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयवों में अप्त्व सामान्य का रहना सिद्ध ही हैं। इस प्रकार परिशेषानुमान से जलीय परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि हुई।

पक्षधर्मताबलात् भी उक्त परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि हो सकती है :—जलीय परमाणु तथा द्व्यणुक के साधक उपर्युक्त अनुमान में पक्ष है 'अप्त्व' तथा हेतु है 'सरित्, समुद्र वृत्तिजातित्व' पक्ष में हेतु का रहना ही पक्षधर्मता है। अतः अब देखना है कि हेतु का पक्षवृत्तित्व है या नहीं। सरित् तथा समुद्र दोनों में एक साथ रहने वाली जाति पक्षभूत अप्त्व ही है। अब वह अप्त्व सामान्य यदि जलीय द्व्यणुक में रहे तो जलीय द्व्यणुक जिन जल परमाणुद्वय से आरब्ध है उनमें भी अप्त्व का वृत्तित्व सुनिश्चित है। इस प्रकार पक्षधर्मताबलात् जलीय द्व्यणुक तथा परमाणु की सिद्धि हुई।

जलीयशरीरे प्रमाणम्

शरीरे प्रमाणम्—आप्याः परमाणवः पारम्पर्येण शरीरारम्भकाः, स्पर्शवत्परमाणुत्वात्, पृथिवीपरमाणुवदिति। तच्च शुक्रशोणितसन्निपातनिरपेक्षम्, आप्यकार्यत्वात करकादिवदिति। तत् प्रकृष्टादृष्टजम्, अयोनिजशरीरत्वात्, मशकादिशरीरवत्। सुखभूयस्त्वान्नाधर्मजम्।

भाषाटीका—ग्रन्थकार जलीय शरीर की सिद्धि निम्नलिखित अनुमान प्रमाण से करते हैं—

जलीय परमाणु परम्परया द्व्यणुकादि-क्रम से जलीय शरीर के आरम्भक हैं, स्पर्शवान् परमाणु होने से, पार्थिव परमाणु के समान। (तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्पर्शविशिष्ट पार्थिव परमाणु परम्परया पार्थिव शरीर के आरम्भक हैं, उसी प्रकार स्पर्शविशिष्ट जलीय परमाणु भी परम्परया जलीय शरीर के आरम्भक[1] हैं।) वह जलीय शरीर शुक्र-शोणित आदि के विना हो उत्पन्न होता है, जलीय कार्य (शरीर) होने से बरफ आदि के समान है। वह मशकादि के शरीर के समान अयोनिज शरीर होने से प्रकृष्ट अदृष्ट से जन्य है। उसमें सुख का बाहुल्य होने से जलीय शरीर अधर्मज नहीं होता।

ब० टी०—आप्या इति। अत्रानुमाने यद्यपि न पार्थिवपरमाणुर्दृष्टान्तः, तस्य पारम्पर्येण शरीरारम्भकत्वे साध्ये जलपरमाणोर्दृष्टान्तीकृतत्वाद्, अन्योन्याश्रयात्, तथापि पृथिवीपरमाणोः प्रकृष्टधर्मजायोनिजत्वे साध्ये जलपरमाणुर्दृष्टान्तः। अत्रेदृशसाध्यवत्त्वस्यागमसिद्धत्वात्। पृथिवीपरमाणोः पुनः शरीराम्भकत्वमात्रं प्रकारान्तरेण जलपरमाणुदृष्टान्तनिरपेक्षेणैव सिद्धमिति तद्दृष्टान्तेन जलपरमाणौ शरीरारम्भकत्वमात्रं साध्यते, यत्पक्षधर्मताबलादयोनिजत्वं सिध्यतीत्यन्यदेतदिति दिक्।

---

१. न्यायवैशेषिक सृष्टि के दो प्रकार मानते हैं—एक तो परमाणु से ही साक्षात् सृष्टि मानते हैं, अर्थात् परमाणु से द्व्यणुक, परमाणु से ही त्र्यणुक, चतुरणुक की उत्पत्ति होती है। इसप्रकार परमाणु से ही द्व्यणुक की उत्पत्ति होकर फिर त्र्यणुक की उत्पत्ति होती है, इसे आरम्भारम्भकवाद कहते हैं। दूसरी परम्परा है परमाणु से द्व्यणुक, द्व्यणुक से त्र्यणुक तथा त्र्यणुक से चतुरणुक आदि इसमें उत्तरोत्तर कार्य के लिये पूर्व-पूर्वकारण अन्यथासिद्ध हो जाते हैं। त्र्यणुक का कारण द्व्यणुक है, परन्तु परमाणु त्र्यणुक के लिये अन्यथासिद्ध है। इस प्रकार द्व्यणुकादि के क्रम से सृष्टि-परम्परा को आरम्भवाद कहते हैं।

विमला—ग्रन्थकार जलीय शरीर की सिद्धि में अनुमान प्रमाण देते हैं—

"आप्या परमाणवः पारम्पर्येण शरीरारम्भकाः स्पर्शवत्परमाणुत्वात् पृथिवीपरमाणुवत्।"

उक्त जलीयशरीरसाधक अनुमान में यद्यपि पार्थिव परमाणु दृष्टान्त नहीं हो सकता, कारण इसके पहले पार्थिव परमाणु का पारम्पर्येण पार्थिवशरीरारम्भकत्व की सिद्धि में जलीय परमाणु को दृष्टान्त के रूप में रखा गया है। अब यदि पुनः जलीय परमाणु में पारम्पर्येण जलीयशरीरारम्भकत्व की सिद्धि के लिए दृष्टान्त में पार्थिव-परमाणु को रखा जाय तो अन्योन्याश्रय[1] दोष होगा। तथापि पार्थिव परमाणु के प्रकृष्ट-धर्मज अयोनिजशरीरारम्भकत्व की सिद्धि में जलीय परमाणु को दृष्टान्त के रूप में इसलिये रखा गया है कि जलीय परमाणु का अयोनिजशरीरारम्भकत्व आगम प्रमाण से सिद्ध है। पार्थिवपरमाणु के भी योनिजपार्थिवशरीरम्भकत्व की सिद्धि के लिये जलीयपरमाणु को दृष्टान्त के रूप में ग्रहण की आवश्यकता नहीं पड़ती, कारण पृथिवीपरमाणु के पार्थिवशरीरारम्भकत्व में प्रत्यक्षानुभवसिद्ध तद्गुणोपलब्धि अर्थात् पार्थिव शरीर में गन्धादि गुणों की उपलब्धिरूप हेतु ही पर्याप्त है। अतः उपर्युक्त हेतु से पार्थिवपरमाणु के पार्थिवशरीरारम्भकत्व की सिद्धि होने से जलीयपरमाणु के मात्र जलीयशरीरारम्भकत्व की सिद्धि में पार्थिव परमाणु को दृष्टान्त के रूप में रखा ही जा सकता है। पुनः जलीयपरमाणु का केवल जलीयशरीरारम्भकत्व सिद्ध होने से 'पक्ष-धर्मताबलेन' अथवा 'इतरबाधसहकारेण' (लक्ष्येतर सब का निषेध करते हुये लक्ष्य मात्र की सिद्धि) वह जलीयशरीर अयोनिज ही होगा—यह सिद्ध होता है।

'पक्षधर्मताबलेन' अर्थात् पक्ष है जलीयपरमाणु, उसमें किस प्रकार के शरीर को उत्पन्न करने की योग्यता है, यह प्रथमतः विचारणीय है। यतः जलीयशरीर अयो-निज ही होता है, अतः जलीयपरमाणु अयोनिज जलीयशरीर का ही उत्पादक है।

ब० टी०—पक्षधर्मताबललभ्यमर्थं प्रकारान्तरया साधयति तच्चेति। कार्यत्वमात्रं योनिजे व्यभिचारि अत आप्येति। आप्यत्वमप्त्वाधिकरणत्वं जलपरमाणौ व्यभिचारि। तत्र शुक्रशोणितसन्निपातं विना जायमानत्वा-भावात्, अत उक्तम्—कार्यत्वादिति। अप्त्वाधिकरणसमवेतत्वादित्यर्थः।

---

१. यह अन्योन्याश्रय दोष तब होता, जब किसी वस्तु के ज्ञान का सम्पादन करने में अपेक्षणीय ज्ञान को उस वस्तु के ही ज्ञान की अपेक्षा हो जाती है। जैसे यदि कहा जाय गौ का लक्षण है सास्नादिमत्त्व अर्थात् गलकम्बलत्व और सास्ना का लक्षण है गौ के गले के नीचे लटकने वाला चर्म, तो गौ के इस लक्षण में अन्योन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि गौ के ज्ञान को गौ का ज्ञान अपेक्षित है, फलतः दोनों ज्ञान के एक दूसरे के आश्रित होने से दोनों ही सम्भव नहीं हो सकते। यही अन्योन्याश्रय दोष है।

वर्षोपलाः करकाः। प्रकृष्टेति। उद्देश्यसिध्यर्थं प्रकृष्टेति। प्रकृष्टपरमाणुत्वादिजत्वेनार्थान्तरवारणाय अदृष्टेति। योनिजशरीरे व्यभिचारवारणाय अयोनिजेति। योनिं विना जायमानेघटादौ व्यभिचारवारणाय शरीरत्वादिति। ननु दृष्टान्त इव प्रकृष्टाधर्मजत्वं पक्षेऽपि सिध्यत्वित्यत आह—सुखेति। यद्यपि मरणकालीनदुःखजनकाधर्मजन्यत्वमस्ति, तथापि प्रकृष्टाधर्मजत्वं नास्तीत्यर्थः।

विमला—आशङ्का हो सकती है कि पार्थिव शरीर के सदृश जलीयशरीर भी योनिज तथा अयोनिज भेद से दो प्रकार के हैं—इस शङ्का के समाधान में पक्षधर्मताबलेन जलीय अयोनिज शरीर की सिद्धि के लिए प्रमाणमञ्जरी में निम्नलिखित अनुमान प्रमाण प्रस्तुत किया गया है—"तच्च शुक्रशोणितसन्निपातनिरपेक्षम्, आप्यकार्यत्वात्, करकादिवत्" अर्थात्, जलीय शरीर के लिये शुक्र-शोणित आदि की आवश्यकता नहीं होती, जलीय कार्य होने से, करका अर्थात् ओले के समान।

उक्त अनुमान के हेतु में केवल 'कार्य' पद रखने पर योनिज शरीर में व्यभिचार होता क्योंकि योनिज शरीर भी कार्य हैं, अतः हेतु में 'आप्य' पद कार्य के विशेषण के रूप में समाविष्ट है। तात्पर्य यह है कि आप्य कार्य = जलीयशरीर अयोनिज ही होता है। हेतु में 'आप्यत्वात्' मात्र कहने पर अप्त्व के अधिकरण जल परमाणु में व्यभिचार होता, कारण जलपरमाणु जायमान न होने से शुक्रशोणित के बिना भी उत्पन्न नहीं होता तथा शुक्रशोणित के द्वारा भी उत्पन्न नहीं होता। अतः हेतु में 'कार्यत्व' पद का समावेश हुआ है।

'कार्यत्व' का अर्थ अप्त्वाधिकरण (अप्त्व = जलत्व सामान्य का अधिकरण जल ही होगा) जल में कार्य समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। 'करका' का अर्थ वर्षा में गिरे हुये उपल (ओले-बरफ के टुकड़े) आदि है।

अब प्रमाणमञ्जरीकार का कहना है कि वह अयोनिज जलीयशरीर प्रकृष्ट अदृष्टज (प्रकृष्ट धर्मज) ही होता है। इसके लिए प्रमाण है—'तत् प्रकृष्टादृष्टजम्, अयोनिजशरीरत्वात्, मशकादिवत्।' 'सुखभूयस्त्वान्नाधर्मजम्'—वह प्रकृष्ट अदृष्टज है, अयोनिज शरीर होने से, मशकादि के शरीर के समान। सुख का बाहुल्य होने के कारण अधर्मज नहीं होता।

उक्त अनुमान में उद्देश्य-सिद्धि के लिये साध्य में 'प्रकृष्ट' पद रखा गया है। कारण अदृष्ट से उत्पन्न तो योनिज शरीर आदि भी हैं। अतः प्रकृष्ट अदृष्टज अयोनिज शरीर की सिद्धि के लिए 'प्रकृष्ट' पद अवश्य देय है। प्रकृष्ट मात्र कहने पर अणु परिमाण की दृष्टि से पारिमाण्डल्य-परिमाणविशिष्ट परमाणु-प्रकृष्ट भी हैं तथा महत् परिमाण की दृष्टि से परममहत्-परिमाणविशिष्ट आकाशादि भी प्रकृष्ट हैं। अतः प्रकृष्टज कहने पर प्रकृष्ट परमाणु से उत्पन्न द्व्यणुक में तथा पार्थिव परमाणु के पाकज रूप,

रसादि गुणों में एवम् आकाशादि से उत्पन्न शब्दादि गुणों में अतिव्याप्ति होती। अतः 'अदृष्ट' पद का समावेश किया गया है।

प्रकृष्ट अदृष्ट से उत्पन्न अयोनिज शरीर ही होता है। हेतु में केवल 'शरीरत्वात्' पद रखने पर योनिज शरीर में व्यभिचार होता, जो कि प्रकृष्टादृष्टज नहीं है, अतः 'अयोनिज' पद समाविष्ट है। योनि के बिना जायमान घटादि भी अयोनिज हैं। अतः उनमें अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'शरीर' पद का समावेश हुआ है।

पूर्वपक्षी यहाँ शङ्का कर सकते हैं कि जब दृष्टान्त के रूप में प्रकृष्ट अधर्मज अयोनिज मशकादिशरीर को रखा गया है तब (पक्षधर्मताबलात्) पक्षभूत जलीय, अयोनिज शरीर को भी प्रकृष्ट अधर्मज ही मानना चाहिए। इसी शङ्का के समाधान में प्रमाणमञ्जरीकार ने 'सुखभूयस्त्वान्नाधर्मजम्' कहा है, अर्थात् वरुणादि लोकों में सुख की बहुलता होने से वहाँ अधर्मज शरीर नहीं होता। जलीय शरीर वरुणलोक में प्रसिद्ध है— यह आगमसिद्ध है। यद्यपि मरणकालीन दुःखजनक होने से वहाँ भी अधर्मजन्य शरीर है ही, तथापि वहाँ स्वल्प दुःख होने से प्रकृष्टाधर्मजत्व नहीं है।

जलीयेन्द्रियं तत्र प्रमाणञ्च

स्नेहवदिन्द्रियं रसनम्। आप्याः परमाणवः पारम्पर्येणेन्द्रियारम्भकाः स्पर्शवत्परमाणुत्वात्, तेजःपरमाणुवदिति तत्र प्रमाणम्। उत्तरो विषयः सरिदादिः। रूपादिचतुर्दशगुणवत्।

भाषाटीका—

जलीय इन्द्रिय—प्रमाणमञ्जरीकार जलीय इन्द्रिय की व्याख्या करते हुये कहते हैं—स्नेहगुण-विशिष्ट इन्द्रिय रसना है।

रसनेन्द्रिय की सिद्धि—रसनेन्द्रिय की सिद्धि में प्रमाण देते हैं:—जलीय परमाणु परम्परया इन्द्रियारम्भक हैं, स्पर्शवान् परमाणु होने से, तैजस परमाणु के समान। इस प्रकार रसनेन्द्रिय की सिद्धि हुई।

विषय—जलीय विषय को परिभाषित करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं—'उत्तरः' अर्थात् शरीरेन्द्रिय से अतिरिक्त जलीयविषय सरित् समुद्रादि हैं। आदि पद से जलीय द्व्यणुकादि के क्रम से आरब्ध हिम, करका एवं कूपादि का ग्रहण होता है।

जल के गुण—जल के भी पृथिवी के सदृश चतुर्दश गुण हैं।[1]

---

१. गन्ध को छोड़ शेष पूर्वोक्त पृथिवी के १३ गुण और एक स्नेह इस प्रकार चतुर्दश गुण जल के हैं—अभास्वर शुक्लरूप, मधुररस, शीत स्पर्श, सांसिद्धिक द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार (वेग) इन चौदह गुणों से युक्त जल है।

तेजोलक्षणं तद्विभागश्च

अगुरुत्वे सति रूपवत्तेजः। तन्नित्यानित्यभेदाद्द्वेधा। आद्यं परमाणुः। उत्तरं द्वेधा-नित्यसमवेतम् अन्यथा चेति। आद्यं द्व्यणुकम्। तेजस्त्वं नित्यसमवेतवृत्ति दीपसुवर्णजातित्वात्, सत्तावदिति परमाणु-द्व्यणुकयोस्सिद्धिः। नासिद्धं साधनम्, तेजस्त्वं सुवर्णवृत्ति दीपाणुजाति-त्वात्, सत्तावदिति साधनात्। उत्तरं शरीरादिभेदेन त्रेधा। पूर्वत्र प्रमाणम्—तैजसाः परमाणवः पारम्पर्येण शरीरारम्भकाः, स्पर्शवत्पर-माणुत्वात्, पृथिवीपरमाणुवदिति शरीरसिद्धिः। तदयोनिजमेव, तेजः कार्यत्वाद्दीपवदिति।

भाषाटीका—जो द्रव्य गुरुत्व से रहित हो तथा रूपवान् हो वही तेज है। वह नित्यानित्य भेद से दो प्रकार का है। पहला परमाणु है, द्वितीय कार्यरूप अनित्य तेज पुनः दो प्रकार के हैं—नित्य परमाणु में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला द्व्यणुक-रूप और अनित्य द्व्यणुकादि में समवेत त्र्यणुकादि से लेकर सभी स्थूल तेज।

तैजस परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि—प्रमाणमञ्जरीकार तैजस परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि के लिये अनुमान प्रमाण का उपनिबन्ध करते हैं—तेजस्त्व नित्य परमाणुओं में समवेत तैजस पदार्थ में विद्यमान है, दीप तथा सुवर्ण में रहने वाली जाति होने से, सत्ता के समान। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सत्ता दीप तथा सुवर्णादि में रहने के साथ-साथ नित्य द्रव्य आकाशादि में समवेत शब्दादि गुणों में भी रहती है, उसी प्रकार तेजस्त्व सामान्य भी दीप तथा सुवर्णादि में रहने से दीप तथा सुवर्ण के साथ-साथ किसी नित्य-समवेत पदार्थ में भी अवश्य विद्यमान रहेगा। इस प्रकार परिशेषानुमान से तैजस परमाणु, द्व्यणुक की सिद्धि हुई। उपर्युक्त अनुमान में प्रयुक्त साध्य, हेतु आदि के पदकृत्य पार्थिव तथा जलीय परमाणु-द्व्यणुक—साधक अनुमान के पदकृत्य के समान ही है।

सुवर्ण का तैजसत्व—पूर्वपक्षी शङ्का कर सकते हैं कि घृतादि के समान सुवर्णादि में भी नैमित्तिक द्रवत्व (तेजस्संयोगजन्यद्रवत्व) है। अतः सुवर्णादि भी पार्थिव द्रव्यों के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार सुवर्ण का तैजसत्व सिद्ध न होने से उपर्युक्त तैजस परमाणु—द्व्यणुकसाधक अनुमान के 'दीपसुवर्णजातित्वात्' इस हेतु के विशेषणासिद्ध होने से उक्त हेतु 'असिद्ध' दोष से दुष्ट है।

इसके विरोध में प्रमाणमञ्जरीकार का कहना है कि उक्त हेतु असिद्ध नहीं है।

प्रतिज्ञा मात्र से अर्थ-सिद्धि नहीं होती। अतः ग्रन्थकार निम्नलिखित अनुमान प्रमाण की उपस्थापना करते हैं—तेजस्त्व सुवर्ण में रहने वाली जाति है, दीप के

परमाणु में रहनेवाली जाति होने से, सत्ता के समान। इस प्रकार सुवर्ण के तैजसत्व को सिद्धि होती है।

अनित्य तेज शरीर, इन्द्रिय एवं विषय-भेद से तीन प्रकार का है।

तैजस शरीर—तैजस शरीर की सिद्धि के लिए प्रमाणमञ्जरीकार का अनुमान प्रमाण इस प्रकार है—

तैजस परमाणु परम्परया शरीर के आरम्भक हैं, स्पर्शवान् परमाणु होने से, पार्थिव परमाणु के समान। इस प्रकार तैजस शरीर की सिद्धि होती है।

तैजस शरीर के अयोनिजत्व की सिद्धि—तैजस शरीर के अयोनिजत्व की सिद्धि इस प्रकार होती है—'तदयोनिजमेव तेजः—कार्यत्वाद्दीपवत्'—वह तैजस शरीर अयोनिज ही होता है, तेज का कार्य होने से, दीप के समान।

ब० टी०—तेजस्त्वमिति। दीपश्चाणुश्च तद्वृत्तिजातित्वादित्यर्थः। अणुत्वे व्यभिचारवारणाय दीपेति। दीपत्वे व्यभिचारवारणाय अण्विति। अणुदीपान्यतरत्वे व्यभिचारवारणाय जातित्वादिति। यद्वा दीपस्थाणु-तद्वृत्तिजातित्वादित्यर्थः। न चाप्रयोजको हेतुः, सुवर्णस्य तेजस्साधक-युक्तीनामन्यत्र सुलभत्वात्।

विमला—ग्रन्थकार ने सुवर्ण में तैजसत्व की सिद्धि के लिये इस अनुमान की स्थापना की है—"तेजस्त्वं सुवर्णवृत्ति दीपाणुजातित्वात् सत्तावदिति साधनात्"।

बलभद्र मिश्र 'दीपाणुजातित्वात्' पद में द्वन्द्व समास करते हैं—'दीपश्चाणुश्च दीपाणुः' अर्थात् दीप तथा तैजस परमाणु में रहने वाली जाति तेजस्त्व ही है। अणुत्व में व्यभिचार के निराकरणार्थ 'दीप' पद समाविष्ट है। यतः अणुत्व अणु में वर्तमान है अतः उसमें अणुवृत्तित्व तो है परन्तु सुवर्णवृत्तित्व नहीं। इसी प्रकार केवल 'अणु-जातित्वात्' कहने से पृथिवीत्वादि में व्यभिचार होता, अतः 'दीप' पद है। केवल दीप में रहने वाली जाति कहने से दीपत्व में व्यभिचार होता अतः 'दीपाणुजातित्वात्' कहा गया है। दीप तथा अणु में विद्यमान अन्यतरत्व धर्म में व्यभिचार के निराकरणार्थ 'जाति' पद है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 'अणुत्व' सांकर्य-दोष से दूषित होने के कारण जाति नहीं अपितु उपाधि है। सांकर्य इस प्रकार है—तैजस परमाणु में अणुत्व है, पृथिवीत्व नहीं, इसी प्रकार घट में पृथिवीत्व है अणुत्व नहीं, परन्तु पार्थिव परमाणु में अणुत्व तथा पृथिवीत्व दोनों हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि अणुत्व जाति नहीं, अपितु उपाधि है। अतः अणुत्व में भी व्यभिचार के निरासार्थ उक्त अनुमान के हेतु में 'जाति' पद समाविष्ट है। दीप तथा अणु दोनों में रहने वाली जाति सत्ता अथवा तेजस्त्व ही होगी।

दीपाणुवृत्ति जाति का अन्य अर्थ भी सम्भव है। दीपस्थ जो अणु अर्थात् दीप के आरम्भक परमाणु उनमें रहनेवाली जाति तेजस्त्व ही है। यहाँ पूर्वपक्षी शंका कर सकते हैं कि उक्त सुवर्ण के साधक अनुमान में हेतु अप्रयोजक है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सत्ता दीप तथा अणु में रहनेवाली जाति होने से सुवर्ण में भी रहती है। उसी प्रकार घट में भी रहती है अतः तेजस्त्व भी दीप तथा अणु में रहने वाली जाति होने से(सुवर्ण में रहने के साथ-साथ) घट में रह सकता है। इस प्रकार 'दीपाणुजातित्वात्' तथा 'सत्तावत्' क्रमशः इन हेतु एवं दृष्टान्त से तेजस्त्व के घटवृत्तित्व की भी सिद्धि हो सकती है। अतः तेजस्त्व का घटवृत्तित्व सिद्ध होने से घटादि में उक्त सुवर्ण के तैजसत्वसाधकानुमान का अति-प्रसङ्ग स्पष्ट है।

उपर्युक्त शंका के विरोध में टीकाकार का कहना है कि उक्त हेतु अप्रयोजक नहीं है, कारण सुवर्णशोधन करने पर उसका तैजसत्व प्रत्यक्षतः सिद्ध होता है। परन्तु घट में ऐसा न होने से घट अप्रयोजक है। आशय यही है कि अग्नि के संयोग से १०-२० घण्टे तक सुवर्ण का द्रवत्व ज्यों का त्यों बना रहता है जब कि जलीय तथा पार्थिव द्रवत्व अग्निसंयोग से विनष्ट हो जाता है। एवं च अग्नि के संयोग से सुवर्ण के रूप में भी कोई परिवर्तन नहीं होता है। अतः सुवर्ण का तैजसत्व सिद्ध है। सुवर्ण का तैजसत्वसाधक अनुमान अन्यत्र भी उपलब्ध है।

नयनेन्द्रिये प्रमाणम्

नयनाख्येन्द्रिये प्रमाणम्—आलोकात्यन्ताभावे जायमानो रूपसाक्षात्कारस्तेजःकारणकः, रूपसाक्षात्कारत्वात्, सत्यालोके जायमानरूपसाक्षात्कारवत्। तद्गोलकस्थं नयनोन्मीलने सत्येवोलब्धेः। आलोकाज्ञानं तम इत्याश्रयासिद्धिरितिचेत् न; विधिमुखेन स्वातन्त्र्येण कृष्णाकारेण बहीरूपवत्तया प्रतीतेः।

भाषाटीका—तैजस इन्द्रिय चक्षु है। चक्षुरिन्द्रिय की सिद्धि में प्रमाण है—आलोक के अत्यन्ताभाव में जो रूपसाक्षात्कार (रूप का ज्ञान) होता है, वह तैजस कारण से ही होता है, रूप का साक्षात्कार होने से, आलोक में सम्पादित रूप के साक्षात्कार के समान। अर्थात् अन्धकार में जो रूपसाक्षात्कार होता, वह चक्षुरिन्द्रिय से ही होता है। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय की सिद्धि होती है।

वह चक्षुरिन्द्रियस्वरूप तेज कहाँ स्थित है? इस प्रश्न के उत्तर में प्रमाणमञ्जरीकार कहते हैं—वह तेज हमारे चक्षुर्गोलक में स्थित है। नयनोन्मीलन के बाद रूपादि के प्रत्यक्ष से ही उस तेज की उपलब्धि होती है।

प्राभाकर मीमांसकों की ओर से एक जिज्ञासा होती है कि आप वैशेषिक तो अन्धकार को तेज का अभावरूप मानते हैं। अतः तमस् के द्रव्यत्व के अभाव में पक्षभूत

'रूपसाक्षात्कार' कहाँ होता है ? इस प्रकार पक्षभूत रूपसाक्षात्कार के असिद्ध होने से उक्त अनुमान [1]आश्रयासिद्ध दोष से दुष्ट है।

प्रमाणमञ्जरीकार उक्त प्राभाकरों के सिद्धान्त का खण्डन भाट्टमत के अवलम्बन-पूर्वक करते हैं। कुमारिल भट्ट के अनुयायी अन्धकार को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। लोकानुभव में देखा जाता है कि शत्रु का जो शत्रु होता है वह मित्र है। महाभारत में जब यक्ष ने दुर्योधन को पकड़ा तो युधिष्ठिर ने कहा, "वयं पञ्चोत्तरशतम्" अर्थात् हम एक सौ पाँच हैं। प्रकृत में प्राभाकर और वैशेषिकों में विवाद हो रहा है। अतः प्राभाकर के विरोधी भाट्ट वैशेषिकों के मित्र के रूप में उपस्थित होते हैं।

अतः प्रमाणमञ्जरीकार भाट्टमत का आश्रय लेते हुये कहते हैं—उक्त अनुमान में आश्रयासिद्धिरूप दोष नहीं है, क्योंकि अन्धकार तेज का अभाव रूप नहीं, अपितु भावरूप द्रव्य है, कारण, अन्धकार भावात्मक रूप से, स्वतन्त्र रूप से तथा कृष्णरूप से बाह्यदेश में प्रतीयमान है।

ब० टी०—आलोकात्यन्ताभावेति। प्रदीपादिजन्यत्वेनार्थान्तरवारणाय सप्तम्यन्तम्। आलोकान्योन्याभावस्थले आलोकादिजन्यत्वेनार्थान्तरवारणाय अत्यन्तेति। एवं घटत्वात्यन्ताभावस्थले सौरालोकादिजन्यत्वेनार्थान्तर-वारणाय आलोकेति। आलोकसामान्यात्यन्ताभाव इत्यर्थः। आलोकः उद्-भूतरूपवत्तेजः, उद्भूतरूपवन्महातेजो वा। तेन स्वमते चक्षुरादितेजस्सत्वेऽपि नाश्रयासिद्धिः। ईश्वरसाक्षात्कारस्य पक्षत्वेनांशतो बाधः स्यात्तद्वारणाय जायमान इति। रससाक्षात्कारे बाधवारणाय रूपेति। रूपानुमितौ बाधवा-रणाय साक्षात्कार इति। न च ज्ञानोपनीतरूपविषयकमानससाक्षात्कारमा-दाय बाधः, तदतिरिक्तत्वेन पक्षस्य विशेषणात्। उद्देश्यसिद्धये तेज इति। रसादिसाक्षात्कारे व्यभिचारणाय रूपेति। रूपानुमितौ व्यभिचारवारणाय साक्षात्कारत्वमुक्तम्। ज्ञानादिप्रत्यासत्त्यजन्यरूपसाक्षात्कारत्वं हेतुः।

---

१. आश्रयासिद्धि कई प्रकार की होती है। जहाँ कई विशेषणों से युक्त पक्ष होता हो, वहाँ विशेषण के असिद्ध होने पर भी आश्रयासिद्धि होती है। कहीं विशेष्य के असिद्ध होने पर भी आश्रयासिद्धि होती है तथा जहां पक्ष में विशेष्य-विशेषणका सम्बन्ध ठीक न हो वहाँ भी आश्रयासिद्धि होती है। प्रकृत में पक्ष है आलोकात्यन्ताभाव में जायमान रूपसाक्षात्कार; साध्य है तेजःकारणकत्व तथा हेतु है रूपसाक्षात्कारत्व। अब यदि आलोकात्यन्ताभावरूप अन्धकार कोई द्रव्य नहीं; अपितु अभावरूप हो तो पक्ष-गत रूपसाक्षात्कार किस द्रव्य में आश्रित होगा ? इस प्रकार आश्रयासिद्धि स्पष्ट है।

विमला--सूर्य के अभाव में भी प्रदीपादि से रूप का साक्षात्कार होता ही है। अतः 'आलोकात्यन्ताभावे' इस सप्तम्यन्त पद का समावेश हुआ है। अर्थात् जिस समय आलोक का अत्यन्ताभाव हो, उसी समय उसी स्थल में जो रूप-साक्षात्कार होता है, उसका कारण चक्षु ही है। सौरादि आलोक के अभाव में भी प्रदीप-विद्युदादि से रूप-साक्षात्कार होता ही है, अतः इस आलोकात्यन्ताभाव की दृष्टि से अर्थान्तर या सिद्ध-साधन के निषेधार्थ "अत्यन्ताभाव" पद है। केवल अत्यन्ताभाव कहने पर घटादि के अत्यन्ताभाव में आलोकजन्य रूपसाक्षात्कार तो होता ही है। अतः इस अर्थान्तर के निषेध के लिये 'आलोक' पद है। आलोक सामान्य का अभाव अर्थात् सम्पूर्ण आलोकों का अत्यन्ताभाव यही तात्पर्यार्थ है।

प्रश्न हो सकता है कि चक्षुरिन्द्रिय भी तैजस है, फिर चक्षुरिन्द्रिय के वर्तमान रहते आलोक का अत्यन्ताभाव कैसे कहते? इसप्रकार पक्षविशेषणीभूत आलोकात्यन्ता-भाव के सिद्ध न होने पर आश्रयासिद्धि-रूप दोष की आपत्ति होगी।

इसके उत्तर में टीकाकार का कहना है कि उक्त चक्षुरिन्द्रिय के साधक अनुमान के पक्ष में प्रविष्ट 'आलोक' पद का अर्थ उद्भूतरूपविशिष्ट तेज है, अर्थात् उद्भूतरूपवान् महत्परिमाणसम्पन्न तेज ही उक्त आलोक का अर्थ है। इसप्रकार तैजस अवयवों से आरब्ध चक्षुरिन्द्रिय के महत्परिमाणविशिष्ट होने पर भी उद्भूत रूपवान् न होने से (इन्द्रियों के रूप, स्पर्शादि अनुद्भूत ही होते हैं) चक्षुस्वरूप तेज के रहने पर भी उक्त आश्रयासिद्धि दोष नहीं होता।

ईश्वर-साक्षात्कार में अंशतः [1]बाधवारण के लिये 'जायमान' पद है, क्योंकि ईश्वर का साक्षात्कार नित्य है। अतः आलोकात्यन्ताभाव में भी—चक्षुरादि कारणों के विना ही ईश्वर का रूपसाक्षात्कार होता है। रसादि के साक्षात्कार में बाध के निवार-णार्थ 'रूप' पद समाविष्ट हैं। रूपादि की अनुमिति में चक्षुरादि तैजस कारणों की अपेक्षा नहीं है, यतः मन के द्वारा ही अनुमिति होती है। अतः रूपादि की अनुमिति में बाध के निरासार्थ 'साक्षात्कार' पद सन्निविष्ट है। ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति[2] स्वरूप अलौकिक सन्निकर्ष से तो सभी विषयों का मानसप्रत्यक्ष होता ही है। उसमें चक्षुरादि तैजस कारणों की अपेक्षा नहीं रहती। 'सुरभि चन्दनम्' इस स्थल में ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से

---

१ बाध—जिस हेतु के साध्य का अभाव अन्य प्रमाण से निश्चित है उसे 'बाधित' कहते हैं, जैसे 'वह्निः अनुष्णो द्रव्यत्वात्' यहाँ वह्नि का अनुष्णत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। अतः द्रव्यत्व हेतु में बाधितत्व है।

२. जिसका ज्ञान विषयी होता है उसी का व्यापार ज्ञानलक्षण कहा जाता है। ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष तो जिसका अलौकिक ज्ञान हुआ उसी की प्रत्यासत्ति है। जैसे 'सुरभि चन्दनम्' इस ज्ञान में नेत्र से और चन्दन से सम्बन्ध होता है। किन्तु सौरभ से कोई लौकिक सन्निकर्ष नहीं होता। अतः सौरभ अंश में नेत्र का अलौकिक सन्निकर्ष और चन्दनांश में लौकिक सन्निकर्ष है।

चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा रूप के साथ गन्ध का भी ग्रहण होता है। अतः इस बाध के निषेध के लिये 'तदतिरिक्तत्वे सति' अर्थात् अलौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त—यह विशेषण पक्षभूत 'रूपसाक्षात्कार' के पूर्व अवश्य देय है।

उक्त अनुमान के साध्य में उद्देश्यसिद्धि के लिये 'तेज' पद का समावेश हुआ है क्योंकि रूपादि के साक्षात्कार में अन्य और भी बहुत से कारण हैं, जैसे रूप के साक्षात्कार के प्रति रूप स्वयं एक कारण है तथा गुण का साक्षात्कार स्वतन्त्ररूप में न होने से उस रूप (गुण) के आश्रयीभूत द्रव्य (समवायिकारण) भी उस रूप के साक्षात्कार के प्रति एक कारण है। प्रकृत में रूपसाक्षात्कार अन्धकार में भी किसी तेज के द्वारा ही होता है—इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये साध्य में 'तेज' पद का समावेश हुआ है। वह तेज चक्षु ही होगा। इसी प्रकार परिशेषात् चक्षुरिन्द्रिय की सिद्धि होती है।

हेतु में भी 'रूप' पद रसादिसाक्षात्कार में व्यभिचार के निरासार्थ है। रूपादि की अनुमिति में व्यभिचार के निषेधार्थ 'साक्षात्कार' पद का समावेश हुआ है। हेतु में भी 'रूपसाक्षात्कार' का अर्थ ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति[1] से अजन्य लौकिकसन्निकर्षजन्य साक्षात्कार है।

ब० टी०—तत्तेजः कुत्रेत्यत आह—तद्गोलकस्थमिति। हेतुमाह नयनेति। नयनपदं गोलकाभिधायि। एतावता नयनविस्फारणमपि गोलकस्थतेजसः सहकारीति भावः। नयनगतिप्रतिबन्धकाभावतया तदुपयोगितया वा तदुपयोगः।

विमला—प्रकृत में 'नयन' पद का अर्थ चक्षुर्गोलक ही है, चक्षुरिन्द्रिय नहीं, इस प्रकार नयन (गोलक) का उन्मोचन भी रूपसाक्षात्कार के प्रति गोलकस्थ तेज का सहायक होने से सहकारी कारण है। रूपसाक्षात्कार के प्रति नयननीमिलन-(आँख मूँदना) स्वरूप प्रतिबन्धक के अभाव-रूप में ही नयनोन्मीलन कारण है। अथवा नयविस्फारण भाव-रूप में प्रतीयमान होने से रूपसाक्षात्कार के प्रतिबन्धकाभाव के सम्बन्ध में उपयोगी है।

ब० टी०—आलोकाज्ञानमिति। तथा च तमसो द्रव्यत्वाभावेन किंगतरूपसाक्षात्कारः पक्ष इत्यर्थः। भट्टमताश्रयणेन प्राभाकरमतमुपमर्दयतिविधीति। भावतया प्रतीयमानत्वादित्येको हेतुः। भावत्वंभ्रमगोचरेऽभावे व्यभिचारी, भावत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वमन्यतरासिद्धम्, अत आह—

---

१. ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष है—'स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानविषयतारूप' स्व = चक्षु, उससे सयुक्त = मन, उससे संयुक्त = आत्मा, उसमें समवेत = सौरभज्ञान, उसकी विषयता सौरभ में है।

स्वातन्त्र्येणेति । ननु स्वातन्त्र्यं किम् ? प्रतियोग्यनपेक्षनिरूणत्वञ्चेत्तह्यं-सिद्धिः । विशेषणत्वेनाप्रतीयमानत्वं यदि, तदाप्यसिद्धिः, अन्धकारवद्भू-तलमिति प्रतीतौ तस्य विशेषणत्वात् । भूतले घटाभाव इति प्रतीतिविषयेऽ-भावे व्यभिचारश्च । एवं स्वातन्त्र्यं विशेष्यमित्यपि परास्तम् । न च स्वातन्त्र्यमन्याविषयकप्रतीतिविषयकत्वम्, अन्यविषयकप्रतीत्यविषयकत्वं वा, असिद्धेः । अन्धकारादीनामप्यन्धकारत्वगोचरप्रतीतिविषयत्वात् । न चासमवेतत्वं विशेष्यत्वम्, भावत्ववादिनो नयेऽसिद्धेरित्यत आह—कृष्णा-कारेणेति । नीलत्वेन प्रतीयमानत्वादित्यर्थः । तथा च तमो नाभावः, भावो वा द्रव्यं वा, नीलत्वात् नीलघटवदिति प्रयोगार्थः । आलोकज्ञानाभाव-श्चान्तरः, बाह्यपदार्थरूपतया प्रतीतिर्न स्यात् । अस्ति च तत्प्रतीतिरित्याह—बहीरूपवत्तयेति ।

विमला—प्राभाकर मीमांसकों की ओर से प्रश्न है कि अन्धकार के आप वैशे-षिकों के मत में तेज के अभावरूप होने से तथा हम मीमांसकों के अनुसार अन्धकार के आलोकाज्ञान रूप होने से (यतः प्राभाकर अभाव पदार्थ को नहीं मानते) रूप-साक्षा-त्कार कहाँ होगा ? अन्ततः आश्रयासिद्धि दोष से उक्त अनुमान कट जाता है।

इसके विरोध में ग्रन्थकार भाट्टमत का अवलम्बनपूर्वक प्राभाकर के मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि उक्त अनुमान में आश्रयासिद्धि दोष नहीं है। कारण अन्धकार की प्रतीति भाव रूप से, स्वतन्त्र रूप से तथा कृष्णाकारेण होती है।

'विधिमुखेन' का अर्थ भावरूप से प्रतीयमान होना है। परन्तु यह हेतु शुक्ति में रजत-भ्रम तथा मरुमरीचिकादि-भ्रमात्मक भावत्वप्रकारकज्ञान में व्यभिचारी होगा। तात्पर्य यही है कि कदाचित् जहाँ रजत नहीं है उस रजताभाव-स्थल में भी भ्रम से रजत का भावात्मक बोध होता है। इसी प्रकार मरुमरीचिकादि में जलाभाव के स्थल में जल का भाव-रूप से बोध होता है। इस प्रकार 'विधिमुखेन' का भाव-रूप से प्रतीय-मान अर्थ करने पर भ्रमात्मक भावत्वप्रकारकज्ञान में (अभाव में) उक्त हेतु व्यभि-चारी होता है। 'विधिमुखेन' का भावत्व-प्रकारक प्रमाविषयत्व—अर्थात् भावात्मक पदार्थों का ज्ञान रूप अर्थ करने पर अन्यतरासिद्ध दोष की आपत्ति होगी, क्योंकि प्राभाकर तो अन्धकार को भावरूप मानते ही नहीं।

इसीलिए अन्धकार के अभावरूप होने के निषेध में द्वितीय हेतु दिया गया है—'स्वातन्त्र्येण'। अब विचारणीय है कि स्वातन्त्र्य का अर्थ क्या है ? प्रतियोगी के निरू-पण की अपेक्षा किये बिना ही निरूपित होना—ऐसा अर्थ करने पर पुनः असिद्धि होती है, कारण अभाव का ज्ञान सदा प्रतियोगिज्ञानाधीन होता है। अब जो अन्धकार को अभाव रूप मानते हैं, उनके मत में अन्धकार प्रतियोगिसापेक्ष-निरूपणीय ही होगा। प्रतियोग्यनपेक्ष-निरूपणीय नहीं, इसप्रकार पुनः अन्यतरासिद्धि होती है।

'स्वातन्त्र्येण' का विशेषणत्वेन अप्रतीयमानत्वरूप अर्थ करने पर (अर्थात् विशेषण रूप से जिसकी प्रतीति न हो) अन्धकार से युक्त भूतल है—इस ज्ञान में अन्धकार की विशेषण के रूप में प्रतीति होने से पुनः असिद्धि होती है। एवञ्च (स्वातन्त्र्य का अर्थ मात्र विशेष्यरूपेण प्रतीयमान करने पर) 'भूतले घटाभावः'—'भूतल में घटाभाव है' इत्याकारक ज्ञान में विशेष्यभूत घटाभाव में उक्त हेतु (स्वातन्त्र्य) का व्यभिचार होता है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य का अर्थ विशेष्य-रूपेण प्रतीयमानत्व करना भी उचित नहीं।

स्वातन्त्र्य का अर्थ अन्याविषयक-प्रतीतिविषयकत्व अथवा अन्यविषयक-प्रतीत्यविषयकत्व का अर्थ करना भी अनुचित है, क्योंकि अन्याविषयकप्रतीतिविषयत्व का अर्थ है जिसके ज्ञान के लिये किसी अन्य के ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती—जैसे रूपादि के ज्ञान के लिये आश्रयीभूत द्रव्य के ज्ञान की अपेक्षा होती है परन्तु द्रव्य के ज्ञान के लिये अन्य किसी के ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। किन्तु अन्धकारादि भीअन्धकारज्ञान के विषय तो होते ही हैं। स्वातन्त्र्य का अर्थ असमवेतत्व (किसी में समवाय सम्बन्ध से समवेत नरहना) अर्थ भी नहीं कर सकते, कारण जो अन्धकार को भावरूप द्रव्य मानते हैं उनके लिये अन्धकार को कहीं समवेत होना अवश्यम्भावी है।

इस प्रकार उक्त दोनों हेतुओं के असिद्ध होने पर अन्धकार के भावत्व की सिद्धि में—'कृष्णाकारेण बहोरूपवत्तया प्रतीतेः' इस तृतीय हेतु का उपन्यास किया गया है:— 'कृष्णाकारेण' अर्थात् नील रूप में प्रतीयमान होने से अन्धकार अभावरूप नहीं है अपितु भावरूप या द्रव्यरूप है। अन्धकार यदि आलोक-ज्ञान का अभावरूप होता तो भाव-रूप से = प्रतियोगिज्ञान निरपेक्षत्वेन अन्धकार की नील रूप में प्रतीति नहीं होती। एवञ्च 'तमो ध्वान्तं' इत्यादि (नञ् के उल्लेख के बिना) भावात्मक संज्ञा आदि से भी अन्धकार को भावरूप मानना उचित है। आलोकाज्ञान तो आत्मा में होता है, परन्तु अन्धकार की प्रतीति तो बाहर होती है। इन्हीं सब कारण से कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों ने अन्धकार को स्वतन्त्र भावात्मक पदार्थ (द्रव्य) माना है।

तमसोऽद्रव्यत्वनिरूपणम्

अत एव नालोकाभावस्तमः। आलोकाभावस्तम इति वदतोऽपि मते आरोपितनीलरूपप्रतीतेस्सत्त्वान्नाश्रयासिद्धिः। न द्रव्यं तमः, असत्येवालोके चक्षुषा प्रतीयमानत्वात्, आलोकाभाववदिति प्रमाणोपपत्तेः। कृष्णरूपं तमो द्रव्यमिति वदतो मते रूपप्रतीतेः सत्वान्नाश्रयासिद्धिः। तदतिरिक्तो भौमादिः विषयः। रूपाद्येकादशगुणवत्।

भाषाटीका—ग्रन्थकार कुमारिलभट्ट के मत का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि आलोकाभाव अन्धकार नहीं है। आलोकाभाव को अन्धकार मान लेने पर भी आरोपितनीलरूप की प्रतीति होने से आश्रयासिद्धि दोष नहीं रहा। अन्धकार को

आलोकाभाव रूप मानकर ग्रन्थकार यह अनुमान प्रस्तुत करते हैं—अन्धकार द्रव्य नहीं है, आलोक के अभाव में ही चक्षु के द्वारा प्रतीयमान होने के कारण आलोकाभाव के समान। अर्थात् जिस प्रकार आलोक के न रहने पर ही आलोकाभाव की प्रतीति होती है, उसी प्रकार आलोक के न रहने पर ही अन्धकार की प्रतीति होती है। अतः अन्धकार द्रव्य नहीं है, अन्धकार कृष्णरूप-विशिष्ट द्रव्य है—इस प्रकार द्रव्यत्ववादियों के मत में भी रूप-साक्षात्कार सम्भव होने से आश्रयसिद्धि नहीं रहती है। तैजस शरीर तथा इन्द्रियों से अतिरिक्त भौमादि सभी तेज विषय हैं। तेज के गुणों का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि रूपादि एकादश गुणों से युक्त तेज है। जल के पूर्वोक्त चतुर्दश गुणों में से गुरुत्व, स्नेह और रस का परित्याग करने पर तथा पार्थिव चतुर्दश गुणों में से रस और गन्ध तथा गुरुत्व के समावेश से तेज के एकादश गुण होते हैं।

इस प्रकार रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार (वेग)—इन एकादश गुणों से तेज युक्त है।

ब० टी०—अत एवेति। भावत्वादिसाधकयुक्तेरेवेत्यर्थः। अभावत्ववादिमतेऽप्याश्रयासिद्धिं परिहरति—आलोकाभावस्तम इति। नन्वेवं भट्टमताङ्गीकारेण कणभुङ्मतावलम्बिनोऽप्यपसिद्धान्त इत्यत आह—तमो न द्रव्यमिति। घटादौ व्यभिचारवारणाय असत्येवालोक इति। पुनरप्यालोकनिपेक्षत्वजन्यग्रहविषये घटादौ व्यभिचारवारणाय चक्षुषेति। अस्मदादिचक्षुषेत्यर्थः। तेनालोकनिरपेक्षमार्जारादिचक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि न व्यभिचारः। यद्वा मार्जारादिगोलकसम्बद्धसामर्थ्यवशात् तदेकचक्षुर्मात्रसहकारि तेजोऽस्त्येवेति बोध्यम्। यत्राप्यौषधादिलेपं कृत्वा तस्करा वस्तु पश्यन्ति, तत्राप्यौषधलेपेन तेजोऽन्तराकर्षणमेवेति पर्यालोचनीयम्। द्रव्यत्ववादिमते सुतरां नाश्रयासिद्धिरित्युक्तमेवेत्याह—इति वदत इति।

विमला—अन्धकार को भावरूप मानने पर उपर्युक्त अनुमान में आश्रयासिद्धि नहीं रही। अन्धकार को अभावरूप मानने पर भी आरोपित नीलरूप की प्रतीति होने से आश्रयासिद्धि दोष नहीं रहा।

अब प्राभाकरों की ओर से पुनः आक्षेप हो सकता है कि हमने अन्धकार को आलोकाज्ञान-रूप मान कर उसमें रूप-साक्षात्कार न होने से आश्रयासिद्धि दोष बताया था तब आपने भाट्टमत से अन्धकार को भाव-रूप द्रव्य मान कर अन्धकार को आलोकाज्ञान-रूप हमारे सिद्धान्त का खण्डन कर आश्रयासिद्धि दोष का परिहार किया। परन्तु कणादमतावलम्बी आप वैशेषिक भी तो अन्धकार को तेज का अभावस्वरूप मानते हैं, इस प्रकार पुनः आश्रयासिद्धि की आपत्ति होती है तथा भाट्टमत के अवलम्बन से

अपसिद्धान्त भी हुआ, यतः आप अन्धकार को भावरूप द्रव्य नहीं, तेज का अभावरूप मानते हैं।

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त आक्षेप के परिहारार्थ तथा अपने मत की पुष्टि के लिये प्रमाणमञ्जरीकार ने इस अनुमान प्रमाण का उपनिबन्ध किया है—"न द्रव्यं तमः, असत्येवालोके चक्षुषा प्रतीयमानत्वात्, आलोकाभाववदिति।"

उपर्युक्त अनुमान से अन्धकार के द्रव्यत्व का खण्डन होने से ग्रन्थकार के परमतावलम्बन से प्राभाकर की ओर से जो अपसिद्धान्तरूप दोष का उद्भावन किया गया था उसका भी परिहार हो जाता है। घटादि द्रव्यों का चाक्षुष प्रत्यक्ष तो होता ही है, अतः उसमें व्यभिचार के निषेध के लिए उक्त अन्धकार के तेजोऽभावत्व-साधक अनुमान के हेतु में विशेषण के रूप में 'असत्येवालोके' पद सन्निविष्ट है। पुनः आलोक के न रहने पर भी त्वगिन्द्रिय से स्पार्शन प्रत्यक्ष तो घटादि का होता ही है, अतः उसमें व्यभिचार के निरास के लिए हेतु में 'चक्षुषा' पद का समावेश किया गया है। अर्थात् यहाँ चाक्षुष प्रत्यक्ष से ही तात्पर्य है। अस्मदादि-चक्षु से यही 'चक्षुषा' पद का अभिप्राय है। कारण मार्जारादि आलोक के अभाव में भी चक्षु से रूपादि का प्रत्यक्ष करते हैं, अतः उनमें व्यभिचार के निरासार्थ 'अस्मदादिचक्षुषा' यही अर्थ ग्रहणीय है। अथवा मार्जारादि के चक्षुर्गोलकनिष्ठ सामर्थ्य से केवल उन्हीं के चक्षु के सहयोगी अन्य तेज का अन्धकार में भी अस्तित्व माना जा सकता है, परन्तु यह मत निराधार है, क्योंकि जब तेजःसामान्याभाव ही अन्धकार है तब अन्धकार में तेज का अस्तित्व कैसे संभव हो सकता है? अतः यह कल्पना अत्यन्त अस्वाभाविक होने से ग्रहणीय नहीं है।

जहाँ तस्करादि के चक्षु में औषधादि के लेपन से अन्धकार में वस्तु-दर्शन की सामर्थ्य का वर्णन है वहाँ भी औषधादि के लेपन से प्रकाशान्तर का आकर्षण ही समझना चाहिये, अर्थात् वहाँ भी विलक्षण प्रक्रिया से तेज के द्वारा ही रूपादि का साक्षात्कार होता है।

कृष्णरूपविशिष्ट अन्धकार को द्रव्य मानने वालों के मत में भी रूपसाक्षात्कार संभव होने से आश्रयासिद्धि नहीं रहती है।

वायुलक्षणं तद्विभागश्च

रूपासहचरितस्पर्शवान् वायुः। स नित्यानित्यभेदेन द्वेधा। पूर्वः परमाणुः। उत्तरो द्वेधा—नित्यसमवेतोऽन्यथा चेति। आद्यो द्व्यणुकम्। वायुत्वं नित्यसमवेतवृत्ति, स्पर्शवद्गतद्रव्यत्वावान्तरजातित्वात् पृथिवीत्ववदिति परमाणुद्व्यणुकयोस्सिद्धिः। उत्तरश्शरीरादिभेदेन त्रिधा भिद्यते। वायवीयाः परमाणवः पारम्पर्येण शरीरारम्भकाः स्पर्शवत्परमाणुत्वात्

पृथिवीपरमाणुवदिति शरीरसिद्धिः। तदयोनिजं वायुकार्यत्वात् त्वगिन्द्रियवत् इति। वायवीयाः परमाणवः पारम्पर्येणेन्द्रियारम्भकाः स्पर्शवत्परमाणुत्वात् तेजःपरमाणुवदिति त्वगिन्द्रियसिद्धिः। तदन्यो विषयः।

भाषाटीका—रूपरहित स्पर्शवान् वायु है। पृथिवी, जल तथा तेज के समान वायु के भी दो भेद होते हैं—(१) नित्य परमाणु तथा (२) अनित्य द्व्यणुक से लेकर सभी कार्य वायु। अनित्य वायु के पुनः दो विभाग होते हैं—(१) प्रथम तो नित्य परमाणु में समवेत वायवीय द्व्यणुक हैं, तथा (२) द्वितीय अनित्य कार्यरूप द्व्यणुक आदि में समवेत वायवीय शरीर इन्द्रिय विषय आदि सभी वायु हैं। द्व्यणुकसे लेकर सभी महत्परिमाण-संपन्न स्थूल वायु कार्य होने से अनित्य है। वायुत्व नित्य (परमाणुओं) में समवेत वायवीय पदार्थ में वर्तमान है, स्पर्शविशिष्ट द्रव्य में रहने वाली द्रव्यत्वावान्तरजाति होने से पृथिवीत्व के समान तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार पृथ्वीत्व द्रव्यत्वावान्तर जाति होने से स्पर्शविशिष्ट पार्थिव घट-पटादि में रहने के साथ-साथ नित्य पार्थिव परमाणु में समवेत द्व्यणुक में भी रहती है, उसी प्रकार वायुत्व भी द्रव्यत्वावान्तर जाति होने से स्पर्शविशिष्ट वायवीय शरीर आदि में रहने के साथ-साथ किसी नित्य-समवेत पदार्थ में भी अवश्य विद्यमान रहेगी। इस प्रकार वायवीय परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि हुई। पार्थिव परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि के समान ही प्रकृत में भी वायवीय परमाणु तथा द्व्यणुक की सिद्धि परिशेषानुमान तथा पक्षधर्मताबल से की गई है। अनित्य वायु शरीर, इन्द्रिय, विषय भेद से तीन प्रकार के हैं। वायवीय परमाणु द्व्यणुकादि-क्रम से शरीरारम्भक हैं, स्पर्शवान् परमाणु होने से पार्थिव परमाणु के समान। इस प्रकार वायवीय शरीर की सिद्धि हुई। वह वायवीय शरीर अयोनिज है, वायु के कार्य होने से त्वगिन्द्रिय के समान। वायवीय परमाणु परम्परया इन्द्रिय के आरम्भक हैं, स्पर्शयुक्त परमाणु होने से तैजस परमाणु के समान। इस प्रकार त्वगिन्द्रिय की सिद्धि उक्त अनुमान से हो जाती है। शरीर तथा इन्द्रिय से भिन्न अनित्य वायवीय द्रव्य विषय के अन्तर्गत आते हैं।

ब० टी०—रूपासहचरितेरिति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय रूपासहचरितेति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय स्पर्शवानिति। रूपात्यन्ताभावाधिकरणत्वे सति स्पर्शात्यन्ताभावानधिकरणं वायुरित्यर्थः। घटसरिदन्यतरत्वे व्यभिचारवारणाय जातित्वादिति। घटत्वे व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वावान्तरेति, द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्येत्यर्थः। पृथिवीत्वसाक्षाद्व्याप्यं घटत्वं भवत्येवेत्यत आह—द्रव्यत्वेति। आत्मत्वे व्यभिचारवारणाय स्पर्शवदिति। घटजलद्वित्वे व्यभिचारवारणाय जातिपदार्थान्तर्गतनित्यत्वभागः। विशेषत्वादिना रूपेण द्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यविशेषादौ व्यभिचारवारणाय जातिपदार्थान्तर्गतानेकत्वभागः। प्रतिज्ञातार्थविचारः पूर्ववत्। वायुकार्यत्वादिति। अयोनिजं

योनिं विना जायमानत्वम्, तेन वायुपरमाणौ व्यभिचारवारणाय कार्यत्वादिति ।

विमला—घटादि भी स्पर्शवान् है, अतः उनमें अतिप्रसक्ति के निरास के लिए उक्त वायु-लक्षण में 'रूपासहचरित = रूपरहित' पद प्रविष्ट है। नीरूप आकाशादि में अतिव्याप्ति के निरास के लिए 'स्पर्शवान्' पद का समावेश किया गया है। अतः टीकाकार के अनुसार वायु का लक्षण इस प्रकार हुआ—जो रूपात्यन्ताभाव का अधिकरण हो (अर्थात् वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है यतः वायु नीरूप है) तथा स्पर्शात्यन्ताभाव का अनधिकरण हो वही वायु है। तात्पर्य यही है कि वायु में स्पर्श का अत्यन्ताभाव नहीं बल्कि वायु का विशेषगुण स्पर्श ही है, परन्तु वायु स्पर्शविशिष्ट होते हुये भी रूपादि अन्य विशेष गुणों से रहित है, यही प्रमाणमञ्जरीकार के वायु-लक्षण का तात्पर्यार्थ है।

वायवीय परमाणु तथा द्व्यणुक के साधक अनुमान में प्रविष्ट हेतुभूत 'स्पर्शवद्-गतद्रव्यत्वावान्तरजातित्वात्' पद का पदकृत्य करते हुये टीकाकार कहते हैं—घट तथा सरित् में वर्तमान अन्यतरत्व धर्म में व्यभिचार के निरासार्थं हेतु में 'जातित्वात्' पद सन्निविष्ट है। कारण घट तथा सरित् भी स्पर्शविशिष्ट द्रव्य हैं परन्तु तन्निष्ठ अन्यतरत्व धर्म का नित्यसवेतवृत्तित्व नहीं है, बल्कि अनित्य कपाल में समवेत घट तथा अनित्य जलावयवों में समवेत सरित् में ही वृत्तित्व है। अतः जाति पद न देने पर हेतु का साध्याभाव में जाने से व्यभिचार स्पष्ट है। एवञ्च हेतु में 'जाति' पद देने पर वायुत्व जाति के स्पर्शविशिष्ट वायवीय शरीरादि में रहने के साथ-साथ नित्य वायवीय परमाणु में समवेत वायवीय द्व्यणुक में भी रहने से उक्त व्यभिचार नहीं रहा। घटत्व भी जाति है, अतः उसमें व्यभिचार के निरास के लिए "द्रव्यत्वावान्तरजातित्वात्'पद का समावेश किया है, अर्थात् द्रव्यत्व से साक्षात् व्याप्य जाति वायुत्व ही होगा। घटत्व तो पृथिवीत्व से साक्षात् व्याप्य जाति है। इसीलिये उसमें व्यभिचार के निराकरणाथ 'द्रव्यत्व' पद समाविष्ट है, अर्थात् द्रव्यत्व-साक्षाद् व्याप्य जाति पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व, वायुत्व, आदि हैं, घटत्व, पटत्व, सरित्त्व आदि नहीं। घटत्व, पटत्व आदि जातियाँ पृथिवीत्व से साक्षाद् व्याप्य जाति हैं, द्रव्यत्वव्याप्य जाति नहीं। अतः केवल साक्षाद्व्याप्य कहने से पुनः घटत्व में व्यभिचार होता। कारण घटत्व भी पृथिवीत्व से साक्षात् व्याप्य जाति है। अतएव घटत्व में व्यभिचार के निवारणार्थ 'द्रव्यत्व·····' आदि कहा गया है।

आत्मत्व में व्यभिचार के निरासार्थं 'स्पर्शवत्' पद सन्निविष्ट है, आत्मत्व भी द्रव्यत्वावान्तर जाति है। आत्मत्व जाति नित्य आत्मा में समवेत है परन्तु नित्य[1]—समवेत अन्य किसी पदार्थ में समवेत नहीं है। अतः साध्याभाव-युक्त आत्मत्व में व्यभिचार के निरासार्थ 'स्पर्शवद्गत' पद है।

---

१. नित्यद्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला।

'जाति' पद का अर्थ है 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्'। 'जाति' पद से घटित अर्थ में 'नित्य' पद को न रखने पर गुणादि के भी स्पर्शविशिष्ट अनेक द्रव्यों में समवेत होने से, उनमें 'जाति' पद की अतिव्याप्ति के निरास के लिए 'नित्य' पद है, एवञ्च प्रकृत हेतु में 'जाति' पद के अर्थ में 'नित्य' पद को न देने पर स्पर्शविशिष्ट घट तथा जलनिष्ठ द्वित्व संख्या में व्यभिचार होता, क्योंकि द्वित्वसंख्या एक से अधिक द्रव्यों में ही समवेत है। परन्तु घट-जलनिष्ठ द्वित्वसंख्या नित्यसमवेतवृत्ति नहीं, अपितु अनित्य-समवेतवृत्ति है। अतः उक्त द्वित्व संख्या में व्यभिचार के निरास के लिए 'जाति' पद के अर्थ के अन्तर्गत नित्य' पद रखा गया है, जब कि द्वित्व संख्या अनित्य ही होती है।

मात्र 'नित्य' पद को देने पर 'अनेकसमवेतत्व' पद को हटा देने से 'द्रव्यत्व साक्षाद्व्याप्य स्पर्शविशिष्ट पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि के परमाणुओं में वृत्ती 'विशेष' पदार्थ में व्यभिचार होगा, अतः 'अनेकसमवेतत्व' पद रखा गया है। कारण एक नित्य पदार्थ विशेष एक ही परमाणु में समवेत रहता है, अनेक में नहीं। अतः 'अनेकसमवेत-त्व' पद भी जाति पदार्थ के अन्तर्गत सन्निविष्ट है। प्रतिज्ञावाक्य का अर्थ जलादिपर-माणुविषयक अनुमानवाक्य के समान ही है।

वायवीय अयोनिज शरीर के साधक अनुमान में प्रविष्ट अयोनिजत्व पद का अर्थ योनि के विना जायमानत्व है। वायवीय परमाणु में योनि के विना अथवा योनिद्वारा जायमानत्व नहीं है। अतः वायु-परमाणु में व्यभिचार के निषेध के लिए उक्त अनुमान के हेतु में 'कार्यत्वात्' पद है।

वायोः प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वविचारः

त्वगिन्द्रियम् अरूपिद्रव्यग्राहकम् अरूपित्वे सति द्रव्यग्राहकेन्द्रिय-त्वात् मनोवदिति वायोः प्रत्यक्षत्वसिद्धिरिति चेत्—न, मूर्तत्वे सति सर्वदा स्पर्शवत्त्वस्योपाधित्वात्। विप्रतिपन्नो वायुरप्रत्यक्षः वायुत्वात् त्वगिन्द्रि-यवत्। स्पर्शादिनवगुणवान्।

भाषाटीका—न्यायवैशेषिक आचार्य वायु के प्रत्यक्षत्व तथा अप्रत्यक्षत्व के विषय में एकमत नहीं हैं। प्राचीन न्यायवैशेषिकाचार्यों के अनुसार वायु का विशेषगुण अनुष्णाशीत स्पर्श है, जिसका त्वगिन्द्रिय से हमें प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रत्यक्षविषयी-भूत स्पर्श-विशेष के आश्रय के रूप में वायु का अनुमान होता है।

किन्तु नव्यनैयायिक स्थूलवायु का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष मानते हैं। इनके अनु-सार भी सूक्ष्म वायु = वायवीय परमाणु तथा द्व्यणुक तो अनुमेय ही हैं।

परन्तु नव्यनैयायिकों का उक्त मत (स्थूलवायु प्रत्यक्षगम्य है—यह मत) युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह सिद्ध है कि उसी द्रव्य का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है, जिसका प्रत्यक्ष भी सम्भव हो। अतः वायु अनुमेय है—यह मत ही अधिक तर्कसम्मत है।

अतः प्रमाणमञ्जरीकार ने पूर्वपक्षी के रूप में प्रथमतः वायु के प्रत्यक्षत्व-साधक अनुमान को उपस्थापित कर बाद में उसका खण्डन किया है।

वायु के प्रत्यक्षत्व का साधक पूर्वपक्षी का अनुमान इस प्रकार है—त्वगिन्द्रिय नीरूप द्रव्य का ग्राहक है, नीरूप होते हुये द्रव्यग्राहक इन्द्रिय होने से, मन के समान। अर्थात् जिस प्रकार मन नीरूप होते हुये नीरूप द्रव्य आत्मा का ग्राहक है, उसी प्रकार त्वगिन्द्रिय भी नीरूप होते हुये इन्द्रिय होने से नीरूप द्रव्य वायु का ग्राहक है। इस प्रकार पूर्वपक्षी के अनुसार वायु के प्रत्यक्षत्व की सिद्धि हुई।

परन्तु प्रमाणमञ्जरीकार का कहना है कि वायु के प्रत्यक्षत्व के साधक उक्त अनुमान में "मूर्त होते हुये सर्वदा स्पर्श से रहित होना" यह उपाधि[1] रहने से उपर्युक्त अनुमान से वायु में प्रत्यक्षत्व की सिद्धि नहीं होती।

इसप्रकार प्रमाणमञ्जरीकार पूर्वपक्षी के द्वारा उपन्यस्त अनुमान में उपर्युक्त उपाधि दिखलाकर निम्नलिखित अनुमान के द्वारा स्वमत (त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष स्पर्श के द्वारा वायु अनुमेय है—इस मत) की पुष्टि करते हैं—"विरुद्धेन प्रतिपन्न विप्रतिपन्न, अर्थात् जिस विषयरूप वायु के प्रत्यक्षत्व तथा अप्रत्यक्षत्व में अभी सन्देह बना हुआ है—ऐसा विवादग्रस्त वायु अप्रत्यक्ष है वायु होने से, त्वगिन्द्रिय के समान। त्वगिन्द्रिय का अप्रत्यक्षत्व तो सर्वानुभवसिद्ध है।

वायु के गुण—

वायु स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग—इन नौ गुणों से युक्त है।

---

१. उपाधि—'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः', अर्थात् जो साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक हो, वही उपाधि है। जैसे 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' इस स्थल में साधन वह्नि तथा धूम साध्य है। "यत्र यत्र धूमोऽस्ति तत्र तत्रार्द्रेन्धनसंयोगोऽस्ति" अतः आर्द्रेन्धन संयोग धूम का व्यापक है। एवम् धूम आर्द्रेन्धन-संयोग का व्याप्य है। इसीप्रकार 'यत्र यत्र वह्निरस्ति तत्र तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति यथा अयोगोलके अतः आर्द्रेन्धनसंयोग-साधनीभूत वह्नि का अव्यापक है। अतः आर्द्रेन्धन संयोग उपाधि है। इसीप्रकार प्रकृत में 'मूर्तत्वे सति सर्वदाऽस्पर्शवत्त्वम्' उपाधि है। क्योंकि मन में 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' यह साध्य है—नीरूप आत्मा का ग्राहक होने से तथा 'मूर्तत्वे सति सर्वदा स्पर्शशून्यत्व' उपाधि भी है। कारण मन मूर्त होते हुये भी सर्वदास्पर्शशून्य है। एवञ्च 'अरूपित्वे सति द्रव्यग्राहकत्व' यह हेतु भी है। अतः जहाँ 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' यह साध्य है, वहाँ 'मूर्तत्वे सति सर्वदा स्पर्शशून्यत्व' यह उपाधि है, जैसे मन में। इस प्रकार उपाधि साध्य का व्यापक है। परन्तु जहाँ अरूपित्वे सति द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्व' रूप हेतु है वहाँ 'मूर्तत्वे सति सर्वदास्पर्श-शून्यत्व' रूप उपाधि नहीं है, क्योंकि त्वगिन्द्रिय वायवीय होने से स्वयं नीरूप होते हुये वायुद्रव्य का ग्राहक तो है, किन्तु वायु का विशेष गुण स्पर्श भी उसमें सर्वदा विद्यमान है, वायवीय इन्द्रिय होने से। इसप्रकार साधन का अव्यापक होने से उपाधित्व स्पष्ट है।

ब० टी०—त्वगिन्द्रियमिति। मनसा सिद्धसाधनवारणाय चक्षुषा बाधवारणाय च त्वगिति। शरीरसहजावरणभूतायां त्वचि अर्थान्तरभङ्गाय इन्द्रियमिति। अरूपिद्रव्यग्राहकत्वन्तु न रूपिद्रव्यग्राहकत्वविरहः, त्वचो घटग्राहकत्वेन बाधात्, वायुग्राहकत्वासिद्धेश्च। किन्तु अरूपि यद्द्रव्यं तद्ग्राहकत्वमित्यर्थः। आकाशादौ त्वक्पुरस्कार्यगुणाभावेनाग्राहकत्वसिद्धौ पक्षधर्मताबलेन वायुग्राहकत्वसिद्धिः। घटादिग्राहकत्वेनार्थान्तरवारणाय अरूपीति। रूपात्यन्ताभाववदित्यर्थः। स्पर्शग्राहकत्वेनार्थान्तरवारणाय द्रव्येति। अरूपिद्रव्यानुमापकत्वेनार्थान्तरवारणाय ग्राहकत्वं विषयजन्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षजनकत्वं साध्यम्। चक्षुषि व्यभिचारवारणाय अरूपित्वेति। श्रोत्रे व्यभिचारवारणाय द्रव्यग्राहकेति। अनुमानविधयाऽरूपित्वे सति द्रव्यग्राहकं श्रोत्रं भवति। न चोक्तरूपं साध्यं तत्र, अत आह—इन्द्रियत्वादिति। द्रव्यप्रत्यक्षजनकत्वादित्यर्थः। इन्द्रियत्वपुरस्कारो विवक्षित इति वा। तेन न कालादावुक्तासाधारण्यघटितसाध्याभावेऽपि व्यभिचारः।

विमला—मन के द्वारा अरूपी द्रव्य आत्मा का ग्रहण तो होता ही है। अतः सिद्धसाधनरूप दोष के निवारणार्थं पक्षमें 'त्वक्'पद है। एवञ्च चक्षु भी इन्द्रिय है, परन्तु चक्षु के द्वारा अरूपी द्रव्य का ग्रहण न होने से चक्षु में साध्याभाव होने से बाध होता। इसलिये भी पक्ष में 'त्वक्' पद समाविष्ट है। शरीर के भीतर सहज आवरणभूत त्वचा में अर्थान्तर के निषेध के लिये 'इन्द्रिय' पद है। अर्थात् त्वचा इन्द्रिय नहीं है, परन्तु त्वचा में स्थित जो इन्द्रिय है वही त्वगिन्द्रिय है। 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' का अर्थ रूपी द्रव्य के ग्राहकत्व का निषेध नहीं है। अर्थात् प्रकृत में 'नञ्' पद ग्राहकत्व के साथ नहीं, अपितु रूपी द्रव्य के साथ प्रयुक्त है। तात्पर्यार्थ यही है कि त्वगिन्द्रिय रूपी द्रव्यों के साथ-साथ अरूपी द्रव्य (वायु) का भी ग्राहक है। अन्यथा 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' का रूपी द्रव्य के ग्राहकत्व का निषेध—अर्थ करने पर त्वगिन्द्रिय के द्वारा घटादि के ग्राह्य होने से बाध होगा तथा वायुग्राहकत्व की भी सिद्धि नहीं होगी। अतः रूपी द्रव्य के ग्राहकत्व के निषेध का अर्थ अरूपीद्रव्यग्राहकत्व नहीं है।

अतः 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' का अरूपी जो द्रव्य है उसका ग्राहक त्वगिन्द्रिय है—यही तात्पर्यार्थ हुआ। आकाशादि भी नीरूप द्रव्य हैं, परन्तु आकाशादि में त्वग्ग्राह्यगुण (स्पर्श) का अभाव होने से त्वगिन्द्रिय में आकाशादि का अग्राहकत्व सिद्ध है। एवञ्च पक्षधर्मता-बल से त्वगिन्द्रिय के वायुग्राहकत्व की सिद्धि होती है। उपर्युक्त अनुमान में पक्ष है त्वगिन्द्रिय, पक्ष में हेतु का सम्बन्ध ही पक्षधर्मता है। अब विचारणीय है कि नीरूपस्पर्शविशिष्ट त्वगिन्द्रिय किस प्रकार के नीरूप द्रव्य का ग्राहक हो सकती है? आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन सभी नीरूप होते हुये भी स्पर्श-

रहित द्रव्य हैं। केवल स्पर्शविशिष्ट नीरूप द्रव्य वायु है। अतः नीरूप स्पर्शविशिष्ट त्वगिन्द्रिय अरूपी द्रव्य वायु की ही ग्राहिका होगी। इस प्रकार पक्षधर्मताबलात् अथवा परिशेषानुमान से त्वगिन्द्रिय के वायुग्राहकत्व की सिद्धि हुई।

त्वगिन्द्रिय के द्वारा घटादि का ग्रहण तो होता ही है। अतः सिद्धसाधन या अर्थान्तर के निषेध के लिये साध्य में 'अरूपि' पद है। 'अरूपि' का अर्थ रूपात्यन्ताभाववान् है, अर्थात् जिसमें रूप का अत्यन्ताभाव हो, अन्यथा पार्थिव द्रव्य घटादि भी स्वयं रूप न होने से घटादि में भी रूप का अन्योन्याभाव तो है ही। अतः यहाँ रूप का अत्यन्ताभाव ही अभीष्ट है। त्वगिन्द्रिय स्पर्श-ग्राहिका तो है ही। अतः अर्थान्तर के निरास के लिये साध्य में 'द्रव्य' पद का समावेश किया गया है।

अरूपी द्रव्य का अनुमापक तो त्वगिन्द्रिय है ही। अतः ग्राहक का अर्थ केवल ज्ञापक नहीं है बल्कि विषय से जन्य जो प्रत्यक्ष ज्ञान है उसका जनकत्व होना ही उक्त 'ग्राहक' पद का अर्थ है।

त्वगिन्द्रिय वायु के प्रत्यक्ष-ज्ञान का कारण है। चक्षु भी द्रव्यग्राहक इन्द्रिय है, परन्तु चक्षु अरूपी द्रव्य का ग्राहक नहीं है, इस प्रकार साध्याभाव में हेतु के जाने से व्यभिचार स्पष्ट है। अतः इस व्यभिचार के निराकरणार्थ हेतु में विशेषणीभूत 'अरूपित्वे सति' पद समाविष्ट है। श्रोत्र भी नीरूप इन्द्रिय है परन्तु श्रोत्र के द्वारा नीरूप द्रव्य का ग्रहण नहीं होता, अतः श्रोत्र में व्यभिचार के निरासार्थ 'द्रव्यग्राहक' पद सन्निविष्ट है। इसी प्रकार घ्राणादि इन्द्रियों के विषय में भी समझना चाहिये।

अनुमान के द्वारा नीरूप श्रोत्रेन्द्रिय भी आकाशद्रव्य का ग्राहक होती है, परन्तु उसमें 'विषयजन्यत्वावच्छिन्नपक्षजनकत्व' साध्य नहीं है अतः व्यभिचार के निराकारणार्थ हेतु में 'इन्द्रियत्वात्' पद है। अर्थात् जिस प्रकार अनुमिति आदि ज्ञान के प्रति मन मनस्त्वेन कारण होता है, परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति इन्द्रियत्वेन रूपेण कारण होता है; उसी प्रकार श्रोत्र भी द्रव्य की अनुमिति आदि ज्ञान के प्रति श्रोत्रत्वेन कारण है। इन्द्रियत्वेन नहीं। उक्त हेतु में प्रविष्ट 'ग्राहक' का अर्थ 'द्रव्यप्रत्यक्षजनकत्व' है। अथवा इन्द्रियत्वेन रूपेण जनकत्व (कारण) अर्थ है। इससे कालादि के नीरूप तथा द्रव्यग्राहक (नीरूप द्रव्य के प्रत्यक्षज्ञान के प्रति कारण) होने पर भी करण न होने से उनमें व्यभिचार नहीं होता। इसी प्रकार केवल 'अरूपित्वात्' कहने पर रूपादि के भी (रूप में कोई रूप न होने से) अरूपी होने और द्रव्यग्राहक न होने से व्यभिचार स्पष्ट है। अतएव हेतु में इन्द्रियत्वात्' पद है। 'अरूपिद्रव्यत्वात्' कहने पर पुनः श्रोत्र में व्यभिचार होगा, अतः 'द्रव्यग्राहक' पद है। 'अरूपित्वे सति द्रव्यग्राहकत्वात्' मात्र कहने पर श्रोत्र आदि के द्वारा अनुमिति में व्यभिचार होगा, अतः 'इन्द्रिय' पद हेतु में समाविष्ट है।

ब० टी०—मूर्तत्व इति। मनसि साध्यमस्ति, मूर्तत्वे सति सर्वदा स्पर्शशून्यत्वमुपधिश्चास्ति। पक्षे च साधनवति नास्तीति साधनाव्यापकः।

पक्षेऽपि प्रथमक्षणे स्पर्शशून्यत्वमस्तीति साधनव्यापकतानिराकरणाय सर्वदेत्युक्तम् । सर्वदा स्पर्शशून्यत्वं गुणादौ, न च साध्यमिति समव्याप्ति-भङ्गभङ्गाय सत्यन्तम् । कालादौ परिमाणवत्त्वे सति सर्वदा स्पर्शशून्यत्व-मस्ति, न च साध्यमिति दोषतादवस्थ्यदुस्थितायै मूर्तत्वमवच्छिन्नपरिमाणत्व-रूपमुक्तम् । स्वमतमाह—विप्रतिपन्न इति । अत्रानुकूलतर्को बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षता-प्रयोजकोद्भूतरूपत्वादुत्थाप्यो बोध्यः । ननु शरीराद्यारम्भकत्वानुमानेषु पृथिवीपरमाण्वादिपक्षकेष्वंशतो बाधः, घटारम्भकपरमाणूनां शरीराद्यनारम्भ-कत्वादिति चेत्—न; तेषामपि शरीराद्यारम्भणयोग्यताया अनुद्भूतरूपाद्युत्पत्ति-दशायां घ्राणारम्भणोपपत्तेः । न चोद्भूतरूपादिजलपरमाण्वादिना कथमनु-द्भूतरूपादिरसनाद्यारम्भ इति वाच्यम्, तप्तकटाहतैलतेज इव निमित्तभेद-वशेन विजातीयारम्भकत्वस्यापि स्वीकारात् । यद्वा सर्वेऽपि परमाणवोऽनु-द्भूतरूपा एव निमित्तभेदवशेन विजातीयारम्भकाः, यद्वा पृथिवीत्वं शरीरम्भकवृत्ति स्पर्शवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातित्वादित्यनुमाने तात्पर्यमिति दिक् ।

विमला—प्रमाणमञ्जरीकार उपर्युक्त अनुमान के हेतु में यह उपाधि दिखाते हैं—'मूर्तत्वे सति सर्वदाऽस्पर्शवत्वात्' अर्थात् जो 'मूर्त होते हुये सर्वदा स्पर्श से रहित हो'—यही उपाधि है । क्योंकि मन में 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' यह साध्य भी है आत्मा का ग्राहक होने से, तथा 'मूर्तत्वे सति सर्वदा स्पर्शशून्यत्व' उपाधि भी है । एवञ्च 'अरूपित्वे सति द्रव्यग्राहकत्व' यह हेतु भी है । अतः जहाँ 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' यह साध्य है, वहाँ 'मूर्तत्वे सति सर्वदा स्पर्शशून्यत्व' यह उपाधि है, जैसे मन में । इस प्रकार उपाधि साध्य का व्यापक है ।

परन्तु जहाँ 'अरूपित्वे सति द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्व' हेतु है वहाँ 'मूर्तत्वे सति सर्वदा स्पर्शशून्यत्व' यह उपाधि नहीं है । क्योंकि त्वगिन्द्रिय के वायवीय होने से वायु का विशेष गुण स्पर्श (अनुद्भूत अवस्था में भी) त्वगिन्द्रिय में अवश्य रहेगा । इसप्रकार साधन का अव्यापक होने से उपाधि स्पष्ट है ।

त्वगिन्द्रिय भी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में स्पर्शशून्य रहती है, अतः साधन का भी व्यापक होने से उपाधि विघटित हो जायेगी यतः उपाधि के लिये साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक होना आवश्यक है । अतः उपाधिवाक्य में प्रविष्ट 'सर्वदा' पद अवश्य देय है । इसप्रकार सोपाधिक हेतु के अन्यथासिद्धत्व का परिहार होता है ।

'सर्वदा स्पर्शशून्यत्व' गुणादि में भी है, परन्तु गुणादि में 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' यह साध्य नहीं है, अतः समव्याप्ति लाभ के लिये 'मूर्तत्वे सति' यह विशेषण समाविष्ट है ।

१०

तात्पर्य यह है कि 'सर्वदा स्पर्शशून्यत्व' मात्र कहने पर भी उपाधि बनी रहती, कारण यह साध्यभूत 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' का व्यापक है तथा हेतुभूत 'अरूपित्वे सति द्रव्यग्राहकेन्द्रियत्व' का अव्यापक भी है। अतः प्रश्न हो सकता है कि 'मूर्तत्वे सति' इस विशेषण का क्या प्रयोजन है ? इसके उत्तर में न्यायवैशेषिक आचार्यों का कहना है कि उपाधि के लिये समव्याप्ति की आवश्यकता है। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में उपाधि का लक्षण करते हुये लिखा है—"अव्याप्तसाधनो यः साध्यसमव्याप्तिरुच्यते स उपाधिः।'—

अर्थात् व्याप्ति के दो भेद हैं—सम और विषम। निरन्तर एक साथ रहने वाले दो पदार्थों की व्याप्ति सम कहलाती है।—जैसे पृथिवी और गन्ध की व्याप्ति। निरन्तर एक साथ न रहने वाले दो पदार्थों की व्याप्ति विषम कहलाती है—जैसे अग्नि और धूम की।

उपाधि के लिये समव्याप्ति की ही आवश्यकता होती है। इसीलिये प्रमाणमञ्जरी के टीकाकार आचार्य बलभद्रमिश्र का कहना है कि समव्याप्ति का भङ्ग न हो इसीलिये 'मूर्तत्वे सति' यह सत्यन्त पद है।

प्रश्न हो सकता है कि मूर्तत्व तो स्वल्प परिमाणवत्त्व के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः परिमाणविशेष होने से मूर्तत्व के कहने में गौरव होगा। अतः लाघव की दृष्टि से परिमाणसामान्य के अर्थ में 'परिमाणवत्त्वात्' कहने में क्या हानि है ? इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि कालादि में परममहत्परिमाणवत्त्व है तथा सर्वदा स्पर्शशून्यत्व भी हैं, परन्तु 'अरूपिद्रव्यग्राहकत्व' साध्य नहीं है। अतः पुनः समव्याप्ति-भङ्ग के निवारणार्थ मूर्तत्व अर्थात् [1]अवच्छिन्नपरिमाणवत्त्व कहा गया है।

ग्रन्थकार त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाले स्पर्श से वायु अनुमेय है—अपने इस मत की पुष्टि के लिये अनुमान देते हैं—"विप्रतिपन्नो वायुरप्रत्यक्षो वायुत्वात् त्वगिन्द्रियवत्।" इस प्रकार वायु में अप्रत्यक्षत्व की सिद्धि होती है। वायु के अप्रत्यक्षत्व में अनुकूल तर्क है—जिस द्रव्य में उद्भूत रूप के साथ उद्भूत स्पर्श हो उसी द्रव्य की प्रत्यक्षता में त्वगिन्द्रिय प्रयोजिका है, जिस द्रव्य में उद्भूत रूप नहीं है उसकी प्रत्यक्षता में त्वगिन्द्रियप्रयोजिका नहीं है।

शंका हो सकती है कि शरीरादि के आरम्भक अनुमानों में तो पृथिवी आदि परमाणु रूप पक्ष है, उसमें आंशिक बाध है, कारण घटारम्भक परमाणु शरीर आदि के अनारम्भक हैं। किन्तु यह कथन उचित नहीं, क्योंकि उन घटारम्भक परमाणुओं में भी शरीर आदि की रचना की योग्यता तो है ही, अनुद्भूत रूप आदि की दशा में भी सृष्टिकार्य देखा जाता है।

यह कहना भी उचित नहीं कि उद्भूत रूप आदि गुण वाले जल परमाणु आदि से कैसे अनुद्भूत रूप वाली रसनादि की उत्पत्ति होती है ? कारण तपे हुये कटाह में

---

१. अवच्छिन्न—सीमित या परिच्छन्न।

वर्तमान तैल-तेज के समान निमित्त कारण के भेद से विजातीयरचना को भी स्वीकार किया गया है। अथवा सभी परमाणु अनुद्भूत रूप वाले होने से निमित्तकारण के भेद से विजातीय द्रव्यों के ही आरम्भक हैं।

अथवा निम्नलिखित अनुमान से भी परमाणुओं की विजातीय रचना की सिद्धि होती है—पृथिवीत्वजाति पार्थिवशरीरारम्भक परमाणुओं में रहने वाली जाति है, स्पर्शयुक्त पृथिवी में रहने वाली द्रव्यत्व-व्याप्य जाति होने से। इसप्रकार अनुमान से परमाणुओं से शरीर आदि की उत्पत्ति सिद्ध है।

आकाशनिरूपणम्

शब्दवदाकाशम्। तत्र प्रमाणम्—शब्दोऽष्टद्रव्यातिरिक्तसमवेतः, सत्त्वे सति श्रोत्रग्राह्यत्वात्, शब्दत्ववदिति। विप्रतिपन्नाः शब्दाः श्रूयमाणशब्दाश्रयाश्रयाः शब्दत्वात्, श्रूयमाणशब्दवत् इत्येकत्वसिद्धिः।

भाषाटीका—पंचमहाभूतों में आकाश अन्यतम है। यह स्मरणीय है कि भारतीय आस्तिक दर्शनों में पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश इन पाँच द्रव्यों को 'पंचमहाभूत' की संज्ञा दी गई है। न्याय-वैशेषिक आचार्यों ने आकाश को भूत मानकर भी नित्य माना है।

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार आकाश नीरूप होने से अप्रत्यक्ष है। अतः आकाश का अनुमान शब्द के द्वारा किया जाता है। शब्द गुण के समवायिकारण के रूप में ही आकाश की कल्पना की गई है।

प्रमाणमञ्जरीकार ने आकाश को परिभाषित करते हुए कहा है :—"शब्द से युक्त आकाश है।" शब्द का समवायिकारण आकाश है—यही तात्पर्यार्थ है।

आकाश शब्दलिङ्गक है। अर्थात् शब्दरूप लिङ्ग से आकाश का अनुमान होता है। अतः आकाश की सिद्धि में ग्रन्थकार का अनुमान इसप्रकार है—"शब्द अष्ट द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य में समवेत है, भावत्वविशिष्ट तथा श्रोत्र के द्वारा ग्राह्य होने से, शब्दत्व के समान।" अर्थात् जिस प्रकार शब्दत्वजाति भावरूप तथा श्रोत्र से ग्राह्य होने से अष्टद्रव्यातिरिक्त शब्द रूप गुण में समवेत है, उसी प्रकार शब्द भी भावरूप तथा श्रोत्र से ग्राह्य होने से एवञ्च गुण होने से किसी द्रव्य में अवश्य समवेत है, वही द्रव्य आकाश है।

ग्रन्थकार ने आकाश के एकत्व की सिद्धि में इस अनुमान का उपन्यास किया है—"विप्रतिपन्न शब्द श्रूयमाण शब्द के आश्रय में (आकाश में) आश्रित हैं, शब्द होने से, श्रूयमाण शब्द के समान।"

इस प्रकार आकाश के एकत्व की सिद्धि हुई।

ब० टी०—शब्द इति । पृथिव्यादिसमवेतत्वेनार्थान्तरवारणाय अतिरिक्तान्तम् । पृथिव्याद्यप्यतिरिक्तं भवत्येवेत्यत उक्तम् द्रव्येति । बाधवारणाय अष्टेति । गुणादिसम्बन्धत्वेनार्थान्तरवारणाय समवेत इति । प्रतियोगिनिविष्टत्वाद्द्रव्येति न व्यर्थम् । रूपे व्यभिचारवारणाय श्रोत्रग्राह्यत्वादिति । शब्दध्वंसादौ व्यभिचारवारणाय सत्त्व इति । भावत्व इत्यर्थः । अत्र पक्षधर्मताबलादष्टद्रव्यातिरिक्ते द्रव्यत्वं सिध्यति । दृष्टान्ते शब्दत्वेऽष्टद्रव्यातिरिक्तशब्दवृत्तित्वम् । अत्र पृथिवीत्वादिरूपेणाष्टौ द्रव्याण्युभयवादिसिद्धानि ग्राह्याणि । तेनाष्टघटाद्यतिरिक्तपटादिवृत्तित्वेन नार्थान्तरम् । न वा गगनस्य यत्किञ्चिदष्टद्रव्यनिवेशिततया बाधः ।

विमला—उपर्युक्त आकाशसाधक अनुमान में साध्य में केवल 'अष्टद्रव्यसमवेत' कहने से पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में रूप, रस, गन्धादि गुण समवेत हैं, अतः अर्थान्तर के निरास के लिये अथवा सिद्धसाधन के भङ्ग के लिये; तथा शब्द को अष्टद्रव्यों में समवेत मानने से बाध भी स्पष्ट है, एवञ्च सांख्यादि दर्शन में तो शब्द को पृथिवी आदि में माना ही गया है अतः इस दृष्टि से भी सिद्धसाधनता दूर करने के लिये अथवा उन के मत के खण्डनार्थ 'अतिरिक्त' पद का समावेश हुआ है ।

साध्य में केवल 'अतिरिक्त' पद के कहने से पृथिवी आदि के भी आठ गुणों से अतिरिक्त होने से 'अष्टातिरिक्त' हैं ही, अतः 'द्रव्य' पद साध्य में सन्निविष्ट है । केवल 'द्रव्यातिरिक्तसमवेत' कहने से द्रव्य से अतिरिक्त तो गुणादि भी हैं, परन्तु उनमें शब्द समवेत नहीं है, (कारण गुण में गुण नहीं होता) तथा केवल "द्रव्यातिरिक्त" कहने पर एक द्रव्य से अतिरिक्त अन्य द्रव्य भी हो सकता है तथा गुण भी । इसप्रकार सभी द्रव्य एक दूसरे से भिन्न होने से अन्योन्याभाव की दृष्टि से अतिरिक्त तो हैं ही, परन्तु उनमें से किसी में भी शब्द समवेत नहीं है, अतः इस बाध के निराकरणार्थ 'अष्ट' पद का समावेश हुआ है । अर्थात् अष्ट द्रव्य से अतिरिक्त द्रव्य में शब्द समवेत है ।

शब्द का अष्टद्रव्यातिरिक्त गुणादि के साथ स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्ध तो है ही । इसी सम्बन्ध को सामानाधिकरण्य सम्बन्ध अथवा स्वाश्रयसमवेतत्व तथा गुणैकार्थवृत्तित्व भी कहते हैं । जैसे स्व अर्थात् शब्द उसका समवाय रहा आकाश में अतः आकाश शब्द का समवायी है । उसी आकाश में संयोगादि सामान्य गुण भी समवेत हैं । अतः एक अर्थ में (द्रव्य में) रहने के कारण परम्परया शब्द संयोगादि गुणों से भी सम्बद्ध है । इसप्रकार अर्थान्तर के निरास के लिये अर्थात् सिद्ध करने चले आकाश को और सिद्ध हुये गुणादि, जो कि पहले से ही सिद्ध हैं, इसप्रकार अर्थान्तर या सिद्धसाधन दोष को दूर करने के लिये 'समवेत' पद साध्य में रखा गया है । कारण गुणादि में कोई गुण समवेत नहीं रहता । अतः किसी द्रव्य में ही शब्दरूप गुण समवेत रहेगा, वही द्रव्य आकाश है ।

अब शंका हो सकती है कि साध्य में 'अष्टातिरिक्त' कहने से ही द्रव्य का बोध होता है, कारण अष्टसंख्यारूप गुण द्रव्य में ही रहेगा, क्योंकि गुण में गुण नहीं रहता अतः 'द्रव्य' पद व्यर्थ है। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि 'अतिरिक्त' पद का अर्थ ही है भेद अथवा अभाव। अभाव कहने से ही किसका अभाव? यह प्रश्न होना स्वाभाविक है, कारण अभाव का ज्ञान प्रतियोगिज्ञानाधीन है। अतः अभाव कहने से उसके प्रतियोगी द्रव्य को सन्निविष्ट करना उचित ही है।

दूसरी बात यह भी है कि शब्द का व्यवहार लाक्षणिक रीति से भी होता है। अतः यद्यपि 'अष्ट' पद का मुख्यार्थ अष्ट-संख्याविशिष्ट द्रव्य ही होगा तथापि लाक्षणिक रीति से अथवा औपचारिक रूप से गुणादि भी हो सकते हैं—जैसे सप्त रूपाणि, षड्रसाः, पञ्च कर्माणि इत्यादि। अतः 'अष्टद्रव्यातिरिक्त' पद का समावेश उचित ही है।

उक्त अनुमान के हेतु में केवल "ग्राह्यत्वात्" कहने पर रूपादि भी सत् तथा ग्राह्य होने से हेतु का व्यभिचार[1] होता, क्योंकि रूपादि अष्टद्रव्यातिरिक्त में समवेत नहीं है। अतः साध्याभाव में हेतु के जाने से व्यभिचार स्पष्ट है। इसीलिये हेतु में 'श्रोत्रग्राह्यत्वात्' पद का समावेश किया गया है।

शब्दत्व जाति तथा शब्दाभाव भी श्रोत्र से ग्राह्य हैं, परन्तु शब्दत्व किसी द्रव्य में समवेत नहीं रहता, वह तो शब्द-रूप गुण में समवेत रहता है तथा अभाव भी किसी द्रव्य में समवेत नहीं रहता। यतः अभाव स्वरूप सम्बन्ध से 'अभावत्वेन रूपेण' ही द्रव्य में रहता है अतः उक्त अनुमान के साध्याभाव-रूप शब्दत्व जाति तथा शब्दाभाव में हेतु के व्यभिचार के निवारणार्थ हेतु में 'सत्त्व' पद रखा गया है।

सामान्य में सामान्य नहीं रहता। अतः शब्दत्व सामान्य में सत्ता नहीं रहेगी तथा केवल द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीन पदार्थों में ही सत्ता के रहने से अभाव में भी सत्ता नहीं रहेगी। 'सत्त्व' का अर्थ टीकाकार ने 'भावत्व' किया है, परन्तु उसका भी अर्थ सत्ता ही है। अन्यथा भावत्व का अर्थ भावात्मक पदार्थ करने से शब्दत्व भी पक्षकोटि में आ जायेगा।

इस प्रकार साध्य में 'अष्टद्रव्यातिरिक्तसमवेतत्व' पद सिद्ध हुआ।

अब विचारणीय है कि अष्टद्रव्यातिरिक्त गुण-कर्मादि कोई भी पदार्थ हो सकते हैं, क्योंकि द्रव्य का उल्लेख नहीं हुआ है अतः पक्षधर्मता बलात् या परिशेषानुमान से ही शब्द के आश्रय के रूप में अष्टद्रव्यातिरिक्त किसी द्रव्य की सिद्धि हो सकती है।

पक्षधर्मताबलात् अर्थ इस प्रकार है—पक्ष है शब्द, शब्द गुण होने के कारण किसी गुण, कर्मादि में समवेत नहीं रहेगा। यतः गुण द्रव्य में ही समवेत रहता है अतः शब्दगुण का आश्रय अष्टद्रव्यातिरिक्त कोई द्रव्य ही होगा, वही द्रव्य आकाश है।

---

१. साध्य से अतिरिक्त में हेतु का गमन ही व्यभिचार है।

इसी प्रकार परिशेषानुमान से भी आकाश की सिद्धि होती है। परिशेष का अर्थ है—प्राप्त होने वाले सभी पदार्थों का निषेध होने पर तथा निषिद्ध पदार्थों से अन्य पदार्थों की प्राप्ति न होने पर बचने वाले पदार्थ को स्वीकार कर लेना। यह स्वीकार जिस अनुमान पर निर्भर होता है, उसे ही परिशेषानुमान कहा जाता है। जैसे—पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों का निषेध हो जाने पर तथा अन्य कोई द्रव्य न होने पर एकमात्र अवशिष्ट द्रव्य आकाश में ही शब्द का अस्तित्व स्वीकृत होता है। टीकाकार के अनुसार उक्त अनुमान के साध्य में केवल 'अष्टद्रव्यातिरिक्तसमवेतत्व' कहने से एवम् 'अतिरिक्त' पद के बाद पुनः 'द्रव्य' पद के समावेश न करने पर दृष्टान्त की सिद्धि हो जाती है, कारण शब्दत्व जाति अष्टद्रव्यारिक्त शब्द-रूप गुण में समवेत है।

प्रकृत में पृथिवी आदि के रूप से प्रसिद्ध आठ द्रव्य ही ग्रहणीय हैं जो वादी-प्रतिवादी दोनों को ही मान्य है। अन्यथा आठ द्रव्य तो आठ घट भी हैं, उनसे अतिरिक्त पट भी हो सकता है तथा नवाँ घट भी हो सकता है जिसमें सांख्यादि शब्दवृत्तित्व मानते ही हैं। अतः सिद्धसाधन या अर्थान्तर के निषेध के लिये प्रसिद्ध पृथिवी आदि आठ द्रव्य ही ग्रहणीय हैं। जैसे चार्वाक आकाश को नहीं मानते तथा कोई-कोई दिक्-कालादि में भी आकाश का समावेश करते हैं। अतः इससे जो बाध होता है, उसका निराकरण भी हो जाता है, कारण न्याय-वैशेषिक प्रसिद्ध पृथिवी आदि आठ द्रव्यों को तो मानते ही हैं तथा उनसे अतिरिक्त शब्दाश्रय के रूप में नवम द्रव्य आकाश को भी मानते हैं। इसलिये बाध नहीं रहा।

इस प्रकार शब्दरूपलिङ्ग के द्वारा अनुमान प्रमाण से नवम द्रव्य के रूप में आकाश की सिद्धि हुई।

ब० टी०—ननु यथा नानारूपाणां नानाधिकरणानि, तथा शब्दानामपि नानाधिकरणता स्यादित्यत आह—विप्रतिपन्ना इति। ननु सर्वशब्दस्यैकाधिकरणत्वेऽग्रहप्रसङ्ग इति चेत्—न; कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभसा तद्ग्रहस्वीकारात्। यद्वा नभोमात्रं श्रोत्रं सर्वेषामेकमेव। न चाति प्रसङ्गः, शब्दकारणीभूतवायुसंयोगस्य कर्णशष्कुलीनिष्ठस्य शब्दसाक्षात्कारजनने श्रोत्रसहकारित्वात्। प्रथमपक्षे पक्षोऽपि एतत्ककारभिन्नो बोध्यः, तेन स शब्दः केनचिच्छ्रूयत एव, निष्प्राणिकस्य प्रदेशस्य वक्तुमशक्यत्वात्। एवमेकयापि कयाचित्प्रत्यासत्त्या सर्वशब्दः श्रूयत इत्याश्रयासिद्धिर्वारिता।

विमला—शङ्का हो सकती है कि जैसे नानारूप के नाना अधिकरण होते हैं—नील घट, रक्त पट, हरित गृह आदि उसी प्रकार नाना शब्दों के भी अनेक अधिकरण होंगे।

प्रमाणमञ्जरीकार का उक्त शङ्का-निराकरण करते हुये शब्द के आश्रय रूप में आकाश के एकत्व की सिद्धि में यह प्रमाण देते हैं—"विप्रतिपन्नाः[1] शब्दाः श्रूयमाण-शब्दाश्रयाः शब्दत्वात्, श्रूयमाणशब्दवत् इत्येकत्वसिद्धिः।"

पुनः शंका होती है कि सभी शब्दों के एक अधिकरण में रहने से उन सब शब्दों का ग्रहण नहीं हो सकेगा, जैसे एक ताक में या एक टेबुल पर बहुत सारी पुस्तकें रखने से नीचे की पुस्तक ऊपर की पुस्तकों से दब जाने से दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार शब्द के भी एकाधिकरण में रहने से नीचे के शब्द ऊपर के शब्दों से दब जाने से प्रत्यक्ष नहीं होगा।

उक्त शंका के समाधान में टीकाकार का कहना है कि आकाश एक होने पर भी व्यापक है तथा भिन्न-भिन्न कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश (श्रोत्रेन्द्रिय) के द्वारा सभी शब्दों का ग्रहण हो जाता है। जैसे – वेदान्ती की आत्मा एक होते हुए भी अन्तःकरण रूप उपाधि से युक्त होकर भिन्न-भिन्न शरीरनिष्ठ होते हुये दुःखों को भोगती है, उसी प्रकार एक आकाश भी भिन्न-भिन्न कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न होकर सभी शब्दों को ग्रहण करता है।

अथवा आकाशस्वरूपश्रोत्रेन्द्रिय[2] सबकी एक है।

अब पुनः प्रश्न हो सकता है कि सभी के आकाशरूप श्रोत्र के एक होने से सभी को सभी शब्दों का ग्रहण होना चाहिये ? इसका उत्तर यही है कि कर्णशष्कुलीनिष्ठ शब्दकारणीभूत वायुसंयोग भी शब्दसाक्षात्कारोत्पत्ति में श्रोत्र का सहकारी कारण है। अर्थात् जिधर हवा को रुख रहेगी, उसी ओर से शब्द का ग्रहण होगा, सभी स्थान में नहीं।

प्रथम पक्ष में—अर्थात् कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाशस्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय को अनेक मानने पर आकाश के एकत्व के साधक उक्त अनुमान के पक्ष में दिये गये शब्द का अर्थ श्रूयमाण शब्द से भिन्न ही करना चाहिये। एवञ्च वे पक्षभूत शब्द भी अवश्य ही किसी के द्वारा सुने गये हैं, निष्प्राणिक प्रदेश का अभाव होने से। इसीप्रकार सामान्य-[3]लक्षणाप्रत्यासत्ति से एक व्यक्ति के द्वारा भी सभी शब्दों के साक्षात्कार हो जाने से

---

१. विप्रतिपन्नाः—अर्थात् जिनके साध्य की सिद्धि में अभी सन्देह है या विचारणीय है।

२. श्रोत्रेन्द्रिय—न्यायवैशेषिक श्रोत्रेन्द्रिय को आकाश स्वरूप ही मानते हैं।

३. सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति—सामान्य-ज्ञान ही आश्रयों की (सामान्य-जाति-युक्त समस्त अधिकरणों की) प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) माना जाता हैं। 'आसत्ति' शब्द का अर्थ प्रत्यासत्ति = सन्निकर्ष है। इस प्रकार 'सामान्यलक्षण' यहाँ पर लक्षण शब्द का अर्थ 'विषय' है। इसलिये सामान्यविषयक ज्ञान ही प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) है। यतः सन्निकर्ष के बिना किसी पदार्थ का प्रत्यक्षात्मक बोध नहीं हो सकता इसलिये सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से धूमत्व-रूप से सकल धूम की अग्नित्व रूप से सकल अग्नि की प्रतीति होती है। इसलिये सामान्य-लक्षणा नामक अलौकिक सन्निकर्ष स्वीकार किया गया है।

आश्रयासिद्धि दोष नहीं रहा, कारण पक्षरूप (आश्रयीभूत) शब्द भी किसी के द्वारा श्रुत होने से सिद्ध ही है, असिद्ध नहीं।

ब० टी०—भेरीशब्दो मया श्रुत इति धीस्तु भेरीजन्यशब्दप्रयोज्य-शब्दविषयकत्वविषया। बधिरस्य तु शब्दग्रहो न भवति, तदुपग्राहका-दृष्टाभावात्। श्रूयमाणशब्दातिरिक्ता इति पक्षार्थः। श्रूयमाणशब्देनांशतः सिद्धसाधनवारणाय श्रूयमाणातिरिक्ता इत्युक्तम्। रूपादिना शब्दत्वेन च बाधभङ्गाय शब्दा इति। श्रूयमाणशब्दस्य य आश्रयस्स आश्रयो येषां त इत्यर्थः। अर्थान्तरवारणाय श्रूयमाणेति। मया श्रूयमाणो यः ककार; तदधिकरणवृत्तय इत्यर्थः। न च ते ते शब्दाः तत्तदाकाशवृत्तयस्सन्त एतत्ककाराश्रयाभिन्नाकाशे वर्तन्तामिति वाच्यम्, गौरवात्, तेषां ग्रहापत्तेश्च। स्वाश्रयाश्रयत्वे शब्दाश्रयाश्रयत्वे चार्थान्तरवारणाय श्रूयमाणेति।

विमला—'भेरी-शब्द मेरे द्वारा सुना गया' इत्याकारक प्रतीति भी भेरीजन्य-शब्दप्रयोज्यशब्दविषयक है। अर्थात् हमारे कानों तक पहुँचने वाले शब्द का उसके ठीक पूर्व शब्द तो कारण है, परन्तु उसके पूर्व-पूर्व शब्द उस शब्द के प्रति अन्यथासिद्ध होने से प्रयोजक हैं। अतः भेरीजन्य शब्द सीधे हमारे कानों तक नहीं पहुँचता, अपितु उस शब्द से उत्पन्न शब्दधारा का शब्दविशेष ही हमारे श्रुतिगोचर होता है, इसप्रकार जो शब्द को नित्य तथा व्यापक मानते हुये यह युक्ति दिखलाते हैं कि एक मील दूर से भी बजनेवाली भेरी के शब्द का लोग प्रत्यक्ष करते हैं, अतः एक मील तक शब्द का फैलाव होने के कारण सिद्ध है कि शब्द व्यापक है। एवम् यह नियम है कि जो व्यापक (विभु) है वह नित्य भी होता है जैसे आत्मादि—यह कथन दूषित है। इसकी पहले भी चर्चा की गई है। नित्यत्व के लिये व्यापकता की आवश्यकता नहीं, जैसे परमाणु तथा मन। एवञ्च यह तो सिद्ध ही है कि शब्द विभु नहीं है, कारण भेरीजन्य जो शब्द एक मील दूर से सुनाई देता है, वह सीधा भेरीजन्य नहीं है, अपितु भेरीजन्य उत्तरोत्तर शब्द पूर्व-पूर्व शब्द से उत्पन्न होकर अन्तिम शब्द कर्णशष्कुली तक पहुँचता है। अतः कर्णशष्कुली तक पहुँचने वाला शब्द भेरीजन्य शब्द से जन्य शब्दों में से है, अतः शब्द व्यापक नहीं है। इसी प्रकार जन्य होने से शब्द की नित्यता का भी निराकरण हुआ। दूसरी बात यह है कि शब्द आकाश में ही उत्पन्न है, भेरी आदि में नहीं। भेरी आदि तो शब्द के निमित्त कारण हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न आकाश ही जब श्रोत्र है तब बहरे को आकाश-स्वरूप श्रोत्र के रहने से शब्द का प्रत्यक्ष होना चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं, इसका उत्तर यह है कि शब्द-ग्राहक अदृष्ट के अभाव से बहरे को शब्द सुनाई नहीं देता।

पक्ष में 'शब्द' पद का अर्थ श्रूयमाण शब्द से भिन्न शब्द है।

तात्पर्य यही है कि श्रूयमाण से अतिरिक्त शब्द ही पक्ष-रूप में इष्ट है, क्योंकि श्रूयमाण शब्द का आश्रय आकाश है—यह तो सिद्ध ही है, उससे अतिरिक्त शब्दों का आकाशाश्रयत्व ही अनुमेय है। अतः आंशिक सिद्धसाधन के निराकरणार्थं पक्ष में 'श्रूयमाणातिरिक्त' पद देय है।

परन्तु अनुमिति दो प्रकार की होती है—एक पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति तथा द्वितीय पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनानुमिति। जहाँ पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नानुमान होता है वहाँ सम्पूर्ण तत्व का ही पक्षकोटि में ग्रहण हो जाने से उनमें से एक दो यदि पहले से सिद्ध भी हो तो कोई हानि नहीं होती, परन्तु जहाँ पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन अनुमान होता है, वहाँ पहले सिद्ध वस्तु को पक्ष से पृथक् कर दृष्टान्त के रूप में रख दिया जाता है। अतः उपर्युक्त अनुमान को पक्षतावच्छदकावच्छेदेन उपस्थित करने पर पक्षभूत शब्द का अर्थ 'श्रूयमाणातिरिक्त शब्द' न करने पर भी सिद्धसाधन दोष नहीं होता।

एवञ्च जिनके मत में 'साध्यसन्देह पक्षता' है उनके अनुसार तो सिद्धिमात्र अनुमान के प्रति प्रतिबन्धक है। परन्तु जिन नव्यनैयायिकों के मत में 'सिषाधयिषा-विरह-विशिष्टसिद्धि का अभाव' पक्षता है, उनके अनुसार सिद्धि के रहने पर भी अनुमिति हो सकती है। अतः इस दृष्टि से आकाश के एकत्व-साधक अनुमान के पक्ष में आंशिक सिद्धि रहने पर भी सिद्धसाधन दोष नहीं हो सकता। शब्द से अतिरिक्त रूपादि गुण तथा शब्दत्व आदि जातियाँ भी हैं, परन्तु रूपादि का आश्रय आकाश नहीं है एवम् शब्दत्व का आश्रय भी आकाश नहीं, अपितु शब्द है। अतः पक्ष में 'शब्द' पद का समावेश हुआ है। तात्पर्यार्थं यही है कि श्रूयमाण शब्द का जो आश्रय है, वही सभी शब्दों का आश्रय है। प्रकृत में बहुव्रीहि समास है—जैसे 'श्रूयमाणशब्दस्य य आश्रयस्स आश्रयो येषां ते' अर्थात् श्रूयमाण शब्द का जो आश्रय है, वही जिन शब्दों का आश्रय है वे शब्द एक ही आकाश में समवेत हैं।

हेतु में 'श्रूयमाण' पद न देने पर, केवल 'शब्दाश्रयाश्रयाः' पद रखने पर 'अपना आश्रय जिसका आश्रय है' ऐसा अर्थ होता है। अथवा शब्द के आश्रय में आश्रित है—यही सिद्ध होता है, जो कि पूर्व से ही सिद्ध है। परन्तु निश्चित रूप से श्रूयमाण शब्द के आश्रय में ही आश्रित—यह स्पष्ट नहीं होता। अतः सिद्धसाधनता या अर्थान्तर के निरासार्थं 'श्रूयमाण' पद का समावेश हुआ है। अर्थात् मेरे द्वारा श्रूयमाण जो 'क'कार है उसी के आश्रय में अन्य शब्द भी आश्रित है।

पूर्वपक्षी आक्षेप कर सकते हैं कि प्रत्येक शब्द अपने-अपने आश्रय में आश्रित हैं, अतः उन-उन शब्दों के अपने-अपने आश्रय के रूप में आकाश को अनेकत्व ही सिद्ध होता है, किन्तु यह कथन उचित नहीं है, कारण जब एक आकाश मानने से ही उपपत्ति हो जाती है, तब अनन्त आकाश मानना व्यर्थ है। साथ ही, गौरव भी होता है। भिन्न-भिन्न आश्रय में आश्रित शब्दों के ग्रहण में भी आपत्ति होगी। केवल 'शब्दाश्रयाः' कहने पर शब्दों में शब्दों का अभाव होने से बाध होता तथा उनका जो भिन्न आश्रय है उनमें

'आश्रित' मात्र इतना कहने पर भी सिद्धसाधनता होती। उसके परिहार के लिये 'श्रूयमाण' पद का समावेश हुआ है। अतः सभी शब्दों के एक ही आकाश-रूप आश्रय में आश्रित होने के कारण आकाश की एकता सिद्ध है।

आकाशस्य नित्यत्वम्

आकाशं नित्यम्, असमवेतभावत्वात्, समवायवदिति नित्यत्वं सिद्धम्। तदेवेन्द्रियं श्रोत्रं नाम, शब्दोपलब्धिर्भूतेन्द्रियकरणिका रूप-शब्दयोरन्यतरसाक्षात्कारत्वाद्रूपसाक्षात्कारवद् इति पारिशेष्यात्सिद्धम्। परिशेषस्तु–विप्रतिपन्नाः शरीरावयवा नयनादयश्च तद्ग्राहका न भवन्ति, कार्यत्वाद् घटवदिति। न कालादयस्तद्ग्राहकाः अजसंयोगनिरा-करणात्। शब्दादिषड्गुणकम्।

भाषाटीका—प्रमाणमञ्जरीकार ने उपर्युक्त अनुमान प्रमाण से आकाश की नित्यता की सिद्धि की है। उक्त अनुमान का अर्थ इस प्रकार है—

आकाश नित्य है, किसी में समवाय सम्बन्ध से न रहने के कारण तथा भावा-त्मक तत्व होने से, समवाय के समान। समवाय किसी द्रव्य में समवेत नहीं रहता, एवञ्च समवाय भावात्मक तत्व भी है, अतः समवाय नित्य है। इसी प्रकार आकाश भी असम-वेत तथा भावात्मक तत्त्व होने से नित्य है। वह आकाश ही श्रोत्रेन्द्रिय के नाम से प्रसिद्ध है। श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि में प्रमाणमञ्जरीकार का अनुमान प्रमाण इस प्रकार है :—

शब्द की उपलब्धि भूतेन्द्रिय से होती है, रूप तथा शब्द में से किसी एक का साक्षा-त्कार (उपलब्धि) होने से, रूप के साक्षात्कार के समान। परिशेषात् श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि होती है। जिस प्रकार रूप का साक्षात्कार भूतेन्द्रिय से सम्पन्न होता है, उसी प्रकार शब्दसाक्षात्कार भी भूतेन्द्रिय के द्वारा सम्पन्न होता है, इस प्रकार परिशेषात् श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि होती है। श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि में परिशेषानुमान इस प्रकार है—

नयनादि शरीर के अवयव, कार्य होने से शब्द के ग्राहक नहीं हैं, घट के समान। जिस प्रकार घट कार्य होने से शब्द का ग्राहक नहीं है उसी प्रकार चक्षुरादि शरीरावयव भी कार्य होने से शब्द के ग्राहक नहीं हैं।

पूर्वपक्षी यदि शङ्का करें कि कार्यभूत नयनादि भले ही शब्द के ग्राहक न हों परन्तु कालादि नित्य द्रव्य तो शब्द के ग्राहक हो सकते हैं? पूर्वपक्षी की इस शङ्का का निराकरण करते हुये ग्रन्थकार का कहना है कि :—

कालादि भी शब्द के ग्राहक नहीं हो सकते, क्योंकि वैशेषिक दर्शन में [1]अजसंयोग का निराकरण किया गया है।

---

१. अजसंयोग—अज का अर्थ है जो उत्पन्नशील नहीं, अपितु नित्य द्रव्य हैं, उनका संयोग।

आकाश के गुण

प्रमाणमञ्जरीकार ने आकाश के गुणों का वर्णन करते हुये कहा है :—

शब्दादि छः गुणों से युक्त आकाश है। इसप्रकार संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग—ये पाँच सामान्य गुण और एक विशेष गुण शब्द—कुल मिलाकर आकाश के छः गुण होते हैं। आकाश नित्य होने के साथ-साथ ही विभु भी है।

ब० टी०—अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यगुणाधारत्वेन प्रसक्तमनित्यत्वं वारयितुं नित्यत्वं साधयति—आकाशमिति। घटादौ व्यभिचारवारणाय असमवेतेति। प्रागभावे व्यभिचारवारणाय भावत्वादिति।

विमला—आकाश के एकत्व के द्वारा ही उसकी नित्यता और अकार्यत्व सिद्ध हो जाता है। परन्तु हमारी बाह्येन्द्रिय से ग्राह्य गुण का आधार होने से आकाश के अनित्यत्व की आशङ्का हो सकती है। एवञ्च आकाश के एक होने से तथा सजातीय अन्य आकाश का अभाव होने से उस एक आकाश तत्त्व के नष्ट होने पर पुनः आकाश की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तब तो शब्द की भी अनुत्पत्ति की आपत्ति होगी। इन्हीं सब शङ्काओं के समाधान में प्रमाणमञ्जरीकार ने इस अनुमान प्रमाण से आकाश की नित्यता की सिद्धि की है:—'आकाशं नित्यम्, असमवेतभावत्वात्, समवायवत्।'

उपर्युक्त आकाश की नित्यता के साधक अनुमान के हेतु में 'असमवेत' पद का समावेश न करने पर घटादि के भावात्मक पदार्थ होने से उनमें व्यभिचार होता, क्योंकि घटादि नित्य नहीं हैं। अतः हेतु में 'असमवेत' पद के समावेश से घटादि की व्यावृत्ति हो जाती है, कारण घटादि कपालादि में समवेत ही रहते हैं, असमवेत नहीं। नित्य द्रव्य के अतिरिक्त सभी जन्य द्रव्य, एवम् गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष—ये सभी पदार्थ द्रव्य में समवेत रहते हैं। एकमात्र समवाय तथा अभाव समवेत नहीं रहते, कारण अभाव स्वरूप सम्बन्ध से अपने अधिकरण में रहता है, एवञ्च अभाव भावात्मक पदार्थ भी नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नित्यद्रव्यों से अतिरिक्त एकमात्र भावात्मक तथा असमवेत पदार्थ समवाय ही है। इसलिये समवाय को दृष्टान्त के रूप में रखा गया है। प्रागभाव भी एक अभाव-विशेष होने के कारण किसी में समवेत नहं रहता, परन्तु वह नित्य नहीं है, अतः उसमें व्यभिचार के निरास के लिए हेतु में 'भावत्व' पद सन्निविष्ट है।

न्यायवैशेषिक दर्शन में अजसंयोग का निराकरण किया गया है। आकाश, काल, दिक् आत्मा अज होने के साथ-साथ अमूर्त्त भी हैं। अतः आकाशादि के व्यापक होने से इनका संयोग यदि होगा तो वह नित्य होगा। नैयायिक नित्य संयोग नहीं मानते। अतः आकाशादि विभु द्रव्यों का अन्य अमूर्त्त द्रव्यों—काल, दिक् और आत्मा के साथ संयोग नहीं माना गया है।

ब० टी०—न चाकाशत्वमिन्द्रियारम्भकवृत्तिभूतलवृत्तिद्रव्यविभाजं-कत्वादित्यत आह—तदेवेति । लाघवादेकमेवाकाशं कर्णशष्कुल्यवच्छेदेनेन्द्रिय-मनुमानत्वप्रयोजकमित्यर्थः । तत्रानुमानं प्रमाणयति—शब्दोपलब्धिरिति । रूपाद्युपलब्धौ सिद्धसाधनवारणाय—शब्देति । जन्यशब्दसाक्षात्कार इत्यर्थः । मनसार्थान्तरवारणाय भूतेति । शरीरादिनार्थान्तरवारणाय इन्द्रियेति । असाधारणकारणत्वेनोद्देश्यसिद्धये कारणेति । रूपसाक्षात्कारत्वादित्येता-वन्मात्रोक्तावसिद्धिः । शब्दसाक्षात्कारत्वादित्युक्तौ च साधनवैकल्यम्, साक्षात्कारतामात्रोक्तौ सुखादिसाक्षात्कारे व्यभिचारः । अतो विशिष्टो हेतुः ।

विमला—आशङ्का हो सकती है कि पृथिवी आदि के समान आकाश भी भूत है, अतः आकाश में भी इन्द्रियारम्भकत्व अवश्य रहेगा। परन्तु न्यायवैशेषिक आचार्यों ने श्रोत्रेन्द्रिय को आकाशात्मक ही माना है। कारण आकाश को यदि श्रोत्र का समवायि-कारण माना जाय तो आकाश के एक होने के कारण असमवायिकारण के अभाव से कार्यद्रव्यरूप श्रोत्र की उत्पत्ति नहीं हो पायेगी। श्रोत्र को अन्य किसी द्रव्य से उत्पन्न मानना भी संभव नहीं, अतः उन-उन जीवों के भोगनियत अदृष्ट-विशेष से उपनिबद्ध कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्रेन्द्रिय के नाम से अभिहित होता है। इसीलिए प्रमाणमञ्जरीकार ने भी श्रोत्रेन्द्रिय की व्याख्या करते हुए कहा है—'तदेवेन्द्रियं श्रोत्रं नाम' अर्थात् वह आकाश हो श्रोत्रेन्द्रिय के नाम से प्रसिद्ध है।

भूतेन्द्रिय होने से श्रोत्र को कुछ लोग निम्नलिखित अनुमान प्रमाण से जन्य सिद्ध करते हैं—आकाशत्व इन्द्रिय के आरम्भक आकाश में वृत्ति है, पृथिवी में न रहने वाली द्रव्यविभाजक उपाधि होने से, तेजस्त्व के समान। न्यायवैशेषिकों का कहना है कि यह अनुमान ठीक नहीं है, कारण वह आकाश ही श्रोत्रेन्द्रिय है। लाघव के कारण उसी आकाश को कर्णशष्कुली से अवच्छिन्न इन्द्रियरूप माना गया है। अतः उपर्युक्त अनुमान अप्रयोजक है।

श्रोत्रेन्द्रिय की सिद्धि के लिए यह अनुमान प्रमाण प्रस्तुत है—

'शब्दोपलब्धिर्भूतेन्द्रियकरणिका रूपशब्दयोरन्यतरसाक्षात्कारत्वाद्रूपसाक्षात्कार-वत्'।

रूपादि की उपलब्धि तो चक्षुःस्वरूप भूतेन्द्रिय से सिद्ध ही हैं, अतः उक्त अनुमान के पक्ष में 'शब्द' पद का समावेश हुआ है।

'साक्षात्कार' का अर्थ जन्यसाक्षात्कार है। मन ज्ञान-मात्र का कारण है तथा इन्द्रिय भी है, परन्तु उससे शब्द का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः उसमें अर्थान्तर संभव है। दूसरी ओर श्रोत्र आकाशरूप होने से नित्य तथा विभु है। अतः श्रोत्र का मूर्त

मन के साथ भी संयोग है, परन्तु मन के अन्तरिन्द्रिय होने से उसमें शब्द के प्रत्यक्षत्व की सामर्थ्य नहीं है। अतः इस प्रकार भी अर्थान्तर दोष है। अतः इन अर्थान्तरों के निषेधार्थ साध्यमें 'भूत' पद सन्निविष्ट है। शरीरादि भी ज्ञान-मात्र के परम्परया कारण हैं। उनमें अर्थान्तर के निरास के लिए 'इन्द्रिय' पद कहा गया है। असाधारण कारणत्व की सिद्धि के उद्देश्य से ही साध्य में 'कारण' पद है।

हेतु में 'रूपसाक्षात्कारत्वात्' मात्र कहने से असिद्धि होती, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय से शब्द का साक्षात्कार नहीं होता। अतः आश्रयासिद्धि तथा दूसरी ओर 'रूप-साक्षात्कारत्व' हेतु का पक्ष के साथ सम्बन्ध न होने से स्वरूपसिद्धि हेत्वाभास स्पष्ट है। 'शब्द-साक्षात्कारत्वात्' मात्र कहने पर 'यत्र यत्र भूतेन्द्रियकरणकत्वं तत्र तत्र शब्दसाक्षात्कारत्वम्'—'जहाँ-जहाँ भूतेन्द्रियकरणत्व है वहीं वहीं शब्दसाक्षात्कारत्व' ऐसी व्याप्ति नहीं बन पाती है, कारण रूपादि भी भूतेन्द्रिय से ही ग्राह्य हैं। एवञ्च 'शब्दोपलब्धि' तो अभी पक्ष-कोटि में ही है, अतः दृष्टान्त के रूप में सिद्धवस्तु को ही रखना उचित है। तात्पर्य यही है कि हेतु में 'रूपसाक्षात्कारत्वात्' मात्र इतना कहने पर 'असिद्धि' दोष होगा, कारण रूपसाक्षात्कारत्वरूप हेतु के शब्दोपलब्धिरूप पक्ष में न रहने के कारण आश्रयासिद्धि तथा स्वरूपासिद्धि दोनों होती हैं। इसी प्रकार हेतु में मात्र 'शब्द-साक्षात्कारत्वात्' कहने से साधन-वैकल्य होता है, अर्थात् व्याप्ति नहीं बन पाती।

हेतु में मात्र 'साक्षात्कारत्वात्' कहने पर सुखादि के साक्षात्कार में व्यभिचार होता, जब कि स्वसमवेत सुखदुःखादि का साक्षात्कार आत्मा अन्तरिन्द्रिय मन से करती है। भूतेन्द्रिय से सुखदुःखादि ग्राह्य नहीं हैं। अतः साध्याभावस्वरूप सुखादि-साक्षात्कार में हेतु के जाने से व्यभिचार होता, अतः 'रूपशब्दयोरन्यतर' रूप विशेषण से विशिष्ट हेतु रखा गया है।

ब० टी—रूपाद्यनुमितौ व्यभिचारवारणाय साक्षात्कारत्वमुक्तम्। साक्षात्कारस्य पक्षे हेतौ दृष्टान्ते च लौकिकत्वमपि विशेषणम्। ननु शब्द-साक्षात्कारत्वमेव हेतुरस्तु केवलव्यतिरेकीति चेत्—न; केवलव्यतिरेक-मनङ्गीकुर्वाणं प्रत्येतस्योक्तत्वादिति। न चासिद्धिवारकं विशेषणमिदम्, अखण्डाभावत्वात्। ननु तावता तदिन्द्रियमाकाशमेव कथमित्यत आह—पारिशेष्यादिति। परिशेषमाह—विप्रतिपन्ना इति। तद्ग्राहका न भवन्ति शब्दग्राहका न भवन्तीत्यर्थः। रूपादिग्राहकत्वेन बाधवारणाय तदिति। लौकिकप्रत्यासत्त्या तद्ग्राहकेन्द्रियाणि न भवन्तीत्यर्थः। अजेति। संयुक्त-समवायेन हि कालादिना स ग्राह्यः, न चाकाशेन तस्य संयोगोऽस्तीत्यर्थः।

विमला—रूप आदि की अनुमिति में व्यभिचार के निषेध के लिए हेतु में 'साक्षात्कारत्व' कहा गया है। साक्षात्कार अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान। उक्त अनुमान में पक्ष,

हेतु तथा दृष्टान्त में प्रयुक्त 'साक्षात्कार' पद का अर्थ लौकिक साक्षात्कार है। अन्यथा महान् अनर्थ होगा, कारण अलौकिक साक्षात्कार से 'सुरभि चन्दनम्' के समान चक्षु से भी शब्द-ग्रहण की आपत्ति होगी।

पुनः पूर्वपक्षी आग्रह कर सकते हैं कि मात्र 'शब्दसाक्षात्कारत्व' यह पद हेतु में रखा जाय, और पक्षमात्र में रहने के कारण अन्वय दृष्टान्त न मिलने से इसे केवलव्यतिरेकी हेतु ही क्यों न माना जाय? इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि अनुमान सर्ववादिसिद्ध होना चाहिए, जैसी पहले भी चर्चा की गई है। मीमांसक तथा वेदान्ती आदि व्यतिरेक व्याप्ति नहीं मानते। एवञ्च अन्वयव्याप्ति के सम्भव होने से दुराग्रह ठीक नहीं।

शङ्का हो सकती है कि श्रोत्रेन्द्रिय आकाशस्वरूप ही है यह कैसे सिद्ध होता है? इसके उत्तर में ग्रन्थकार का यह परिशेषानुमान प्रस्तुत है :—

'विप्रतिपन्नाः शरीरावयवाः नयनादयश्च तद्ग्राहका न भवन्ति, कार्यत्वात् घटवत्'—'तद्ग्राहका न भवन्ति' का 'शब्द के ग्राहक नहीं होते'—यही अर्थ है। नयनादि तो रूपादि के ग्राहक हैं ही, अतः मात्र 'ग्राहका न भवन्ति' कहने पर बाध होता। इसीलिए 'तत्' पद से शब्द का उल्लेख कर चक्षुरादि शब्द-ग्राहक नहीं हैं – यह स्पष्ट कर दिया गया है। प्रकृत में भी 'ग्राहकाः न' का अर्थ लौकिक प्रत्यासत्ति से चक्षुरादि शब्द के ग्राहक नहीं—यही अर्थ अभीष्ट है।

कालादि भी शब्द के ग्राहक नहीं हो सकते, क्योंकि वैशेषिक दर्शन में अजसंयोग का निराकरण किया गया है। कालादि गुण का ग्रहण संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से ही कर सकते हैं, जैसेकि चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी घटादि में समवेत रूपादि का ग्रहण संयुक्तसमवाय सम्बन्ध से ही करती है। अतः कालादि का शब्द के ग्रहण में सर्वप्रथम आकाश के साथ संयुक्त होना आवश्यक है, तदनन्तर उसमें समवेत शब्द गुण के साथ संयुक्त समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होकर ही शब्द के ग्राहक हो सकते हैं। परन्तु काल तथा आकाश दोनों ही नित्य, विभु, अज तथा अमूर्त्त होने से निष्क्रिय हैं। अतः क्रिया के अभाव में उनमें संयोग भी नहीं बन पाता। अतएव कालादि शब्द के ग्राहक नहीं हो सकते।

काललक्षणं तत्र प्रमाणञ्च

विवक्षितपरत्वासमवाय्याश्रयत्वे सति सर्वगतः कालः। विप्रतिपन्नं मनो विवक्षितपरत्वासमवाय्याश्रयसंयुक्तं द्रव्यत्वात्, आत्मवदिति तत्र प्रमाणम्।

भाषाटीका—विवक्षित अर्थात् जो आगे वर्णनीय है ऐसे दिक्कृत परत्व तथा अपरत्व से भिन्न जो कालकृत परत्व तथा अपरत्व है, उसके असमवायिकारण का जो आश्रय हो तथा सर्वव्यापक द्रव्य हो, वही द्रव्य काल है।

आशय यह है कि सभी भावात्मक कार्यों की उत्पत्ति के लिये समवायि[1] कारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण—इन तीन कारणों की अपेक्षा होती है।

प्रकृत में कालकृत परत्व का अर्थ ज्येष्ठत्व तथा अपरत्व का अर्थ कनिष्ठत्व है। जैसे ५ साल के बालक से १० साल का बालक ज्येष्ठ है, अतः १० साल के बालक में कालकृत परत्व है। तथा उसकी अपेक्षा ५ साल का बालक कनिष्ठ है, अतः उसमे कालकृत अपरत्व है।

इस कालकृत परत्व तथा अपरत्व का समवायिकारण है वह दस साल का तथा पाँच साल का बालक। असमवायिकारण है इन बालकों के साथ काल-संयोग तथा निमित्त कारण है, बालकों में क्रमशः वहुतर अल्पतर सूर्य-क्रियाओं के सम्बन्ध का ज्ञान।

अब यदि काल को न माना जाय तो उस दस वर्ष के बालक में जो कालकृत परत्व है उसका असमवायिकारण जो काल के साथ बालक का संयोग है—उस संयोग की उपपत्ति नहीं हो पायेगी। यतः काल तथा बालक के संयोग का एक आश्रय तो बालक है अतः दूसरे आश्रय के रूप में ही काल की सिद्धि होती है। यह काल सर्व-व्यापक है।

काल नीरूप द्रव्य है। अतः काल की सिद्धि अनुमान प्रमाण के द्वारा होती है—

"विप्रतिपन्न मन कालकृत परत्व तथा अपरत्व के असमवायिकारण के आश्रय के साथ संयुक्त है, द्रव्य होने से, आत्मा के समान। अर्थात् जिस प्रकार आत्मा द्रव्य होने से कालकृत परत्वापरत्व के असमायिकारण संयोग के आश्रय घट-पटादि के साथ संयुक्त

---

१. समवायिकारण— जिस कारण के साथ कार्य का समवाय सम्बन्ध हो उसे समवायिकारण कहते हैं। इस दृष्टि से अवयवी द्रव्य का उसका अवयवभूत द्रव्य; गुण और कर्म का उसके आधारभूत द्रव्य समवायिकारण है। समवायिकारण द्रव्य ही होता है। असमवायि-कारण— कार्य या कारण के साथ एक पदार्थ में समवेत होकर जो कार्य के प्रति कारण होता है, वह असमवायिकारण है। असमवायिकारण दो प्रकार का होता है—(१) कार्य के साथ अर्थात् पटादि के साथ एक पदार्थ में तन्तु आदि में समवेत होकर (समवाय सम्बन्ध से आश्रित होकर) जो कारण होता है, वह एक असमवायिकारण है। जैसे तन्तुसंयोग पट के प्रति असंवायिकारण है। तन्तुसंयोग अपने कार्य पट के साथ तन्तु में समवेत रहता है और पट भी तन्तु में समवेत रहता है। इसे लघ्वी प्रत्यासत्ति कहते हैं। (२) कारण के साथ अर्थात् अपने कार्य के समवायिकारण के साथ एक पदार्थ में समवेत होकर जो कारण होता है वह द्वितीय असमवायिकारण है। जैसे तन्तुरूप पटरूप के प्रति असमवायिकारण है। तन्तुरूप अपने कार्य पटरूप के समवायिकारण पट के साथ एक पदार्थ तन्तु में समवेत रहता है—इसे बृहती प्रत्यासत्ति कहते हैं। असमवायिकारण गुण तथा कर्म होते हैं। निमित्तकारण—उपर्युक्त दोनों कारणों से भिन्न निमित्तकारण है। जैसे पट के प्रति जुलाहे आदि निमित्तकारण हैं।

है, उसी प्रकार मन भी द्रव्य होने से आत्मा के समान कालकृत परत्वापरत्व के असमवायिकारण के आश्रय के साथ संयुक्त है।

कालकृत परत्वापरत्व के असमवायिकारण के एक आश्रय घट-पट हैं। परन्तु अन्तरिन्द्रिय मन आत्मा की तरह द्रव्य होने पर भी बाह्य घट-पट के साथ संयुक्त नहीं हो सकता। अब विवक्षित परत्व के असमवायिकारण का आश्रयभूत जिस द्रव्यान्तर के साथ मन संयुक्त होता है, वही द्रव्य काल है।

आत्मा का विभु द्रव्य के साथ संयोग असम्भव है, क्योंकि वैषेशिक दर्शन में अज-संयोग का निराकरण किया गया है। अतः आत्मा के सन्दर्भ में परत्वापरत्व के असमवायिकारण के आश्रयभूत घट-पटादि का ही आत्मा के साथ संयुक्त होना अनिवार्य है। एवञ्च अन्तरिन्द्रिय तथा अणुपरिमाणविशिष्ट मन का बाह्य घट-पट के साथ संयोग असम्भव होने से मन का परत्व के असमवायिकारण संयोग का अन्य आश्रय विभुकाल के साथ ही संयुक्त होना सम्भव है। इस प्रकार अनुमान प्रमाण के द्वारा काल की सिद्धि हुई।

ब० टी०—विवक्षितं दिक्कृतभिन्नं यत्परत्वं तदसमवायिकारणाश्रयत्वे सति सर्वगतो व्यापकः काल इत्यर्थः। आकाशादावतिव्याप्तिं भञ्जयितुं सत्यन्तम्। पिण्डेऽतिव्याप्तिभङ्गाय सर्वगतत्वं विशेषणम्। दिश्यतिव्याप्तिभङ्गाय विवक्षितेति। शब्दासमवायिकारणाश्रये गगनेऽतिव्याप्तिभङ्गाय परत्वेति। परत्वनिमित्तकारणादृष्टाद्याश्रये आत्मन्यतिव्याप्तिं भञ्जयितुम् असमवायीति।

विमला—काल नित्य, विभु तथा वह अखण्डात्मक द्रव्य है जिसके द्वारा सम्पूर्ण अस्थायी तथा अशाश्वत वस्तुओं में परिवर्तन होता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्यों में क्रमशः पृथिवी आदि पाँच महाभूतों का वर्णन किया गया है। चूंकि आकाश से ही नित्य तथा विभु द्रव्यों का निरूपण प्रारम्भ हो जाता है अतः आकाश की तरह काल के भी नित्य तथा विभु द्रव्य होने से आकाश के बाद इसकी गणना की गई है।

ग्रन्थकार काल की व्याख्या करते हुये कहते हैं—"विवक्षितपरत्वासमवाय्याश्रयत्वे सति सर्वगतः कालः"। विवक्षित अर्थात् दिक्कृत परत्व तथा अपरत्व से भिन्न जो कालकृत परत्वापरत्व है। जैसे यहाँ से जो १ मील दूरी पर स्थित है उससे पाँच मील दूर रहने वाले व्यक्ति में दिक्कृत परत्व होने पर भी वह १ मील दूर रहने वाले से यदि अपेक्षाकृत युवा हो तो उसमें कालकृत अपरत्व का बोध होता है। इसीलिये दिग्विपरीत परत्वापरत्व कहा गया है। अतः कालकृत परत्वापरत्व के असमवायिकारण का जो आश्रय हो तथा सर्वव्यापक द्रव्य हो वही द्रव्य काल है।

इस लक्षण में केवल 'सर्वगतः कालः' कहने पर आकाशादि सर्वव्यापक द्रव्यों में अतिव्याप्ति होती। अतः लक्षण में 'विवक्षितपरत्वासमवाय्याश्रयत्वे सति' इस सत्यन्त पद का समावेश हुआ है।

सूर्य के परिस्पन्दन ही अहोरात्रि स्वरूप हैं। सूर्य की क्रिया सूर्य में समवेत है। सूर्य की क्रिया के साथ पिण्ड के सम्बन्ध से ही पिण्ड में परत्वापरत्व का बोध होता है। जैसे कि बहुतर सूर्यपरिस्पन्द के सम्बन्ध से पिण्ड में परत्व-बुद्धि तथा अल्पतरपरिस्पन्द के सम्बन्ध से पिण्ड में अपरत्व बुद्धि होती है। परन्तु कारण का कार्य के साथ सम्बन्ध हुये विना कार्योत्पत्ति सम्भव नहीं। अतः सूर्य की क्रिया को पिण्ड तक पहुँचाने वाला जो व्यापक द्रव्य है, वही काल है। काल व्यापक होने के कारण एक ओर सूर्य-क्रिया के साथ संयुक्त है दूसरी ओर पिण्ड के साथ भी संयुक्त है। इसी काल-पिण्ड-संयोग को कालकृत परत्व तथा अपरत्व का असमवायिकारण माना गया है। अब यदि काल-लक्षण में मात्र 'विवक्षितपरत्वासमवाय्याश्रयत्वं कालः' कहते तो संयोग के अनेक आश्रय होने से कालकृत परत्व-अपरत्व के असमवायिकारणीभूत उस काल-पिण्ड-संयोग के काल की तरह पिण्ड में भी आश्रित होने से पिण्ड में काल-लक्षण की अतिव्याप्ति होती। अतः काल-लक्षण में 'सर्वगतः' पद समाविष्ट है। दिक्कृत परत्व में अतिव्याप्ति के परिहार के लिये 'विवक्षित' पद लक्षण में सन्निविष्ट है।

मुखावयवों के साथ मुखावच्छिन्न आकाश का जो संयोग है वही शब्द का असमवायिकारण है। अतः शब्द के असमवायिकारण का एक आश्रय आकाश भी है, उसमें अतिव्याप्ति के निषेध के लिये 'परत्व' पद का समावेश हुआ है। परत्व के निमित्त-कारण अदृष्ट आदि का आश्रय सर्वव्यापक आत्मा है। अतः आत्मा में अतिव्याप्ति के निरास के लिये 'असमवायि' पद कहा गया है।

ब० टी०—विप्रतिपन्नमिति। शरीरादिमूर्तासंयुक्तमित्यर्थः। विप्रतिपन्नत्वरूपपक्षतावच्छेदकधर्मावच्छेदेन साध्यं सिध्यत् कालमादायैव सिध्यति, अन्यथा पिण्डसंयुक्तत्वेनार्थान्तरत्वात्। रूपादौ बाधवारणाय मन इति। आकाशसंयुक्तत्वेनार्थान्तरं वारयितुम् आश्रयान्तम्। दिशार्थान्तरवारणाय विवक्षितेति। शब्दासमवायिकारणसंयोगाश्रयगगनादिनार्थान्तरवारणाय परत्वेति। परत्वनिमित्तादृष्टादिवदात्मनार्थान्तरवारणाय असमवायीति। तादृशपिण्डसंयुक्तत्वेनात्मनि साध्यसिद्धिः।

विमला—काल की सिद्धि में ग्रन्थकार का प्रमाण है—'विप्रतिपन्नं मनो विवक्षितपरत्वासमवाय्याश्रयसंयुक्तं द्रव्यत्वात्, आत्मवत्''।

उक्त अनुमान में ''विप्रतिपन्न'' पद का अर्थ शरीरादि मूर्त द्रव्यों के साथ असंयुक्त मन है। न्यायवैशेषिकों के अनुसार मुक्तावस्था में भी मन तथा आत्मा का संयोग

बना रहता है। परन्तु मुक्तावस्था में मन का मूर्त्त द्रव्य शरीर आदि के साथ संयोग समाप्त हो जाता है। अतः "विप्रतिपन्न मन" का अर्थ मूर्त्त से असंयुक्त मन का उस समय (मुक्तावस्था में) परत्वासमवायिकारण के आश्रयभूत काल के साथ ही संयोग होता है। कारण काल विभु होने से 'सर्वमूर्तसंयोगित्वं विभुत्वम्' इस नियम के अनुसार मूर्त्त मन के साथ मुक्तावस्था में भी संयुक्त रहता है।

विप्रतिपन्नत्व[1] रूप पक्षतावच्छेदक धर्म से अवच्छिन्न साध्य की सिद्धि काल का ग्रहण करने पर ही होती है। अर्थात् पक्ष हैं विप्रतिपन्न मन, पक्षतावच्छेदक धर्म है विप्रतिपन्न मनस्त्व अथवा सर्वमूर्तासंयुक्तमनस्त्व, उससे अवच्छिन्न सर्वमूर्त्तासंयुक्त मन-रूप पक्ष में साध्य 'परत्वासमवाय्याश्रयसंयुक्तत्व' की सिद्धि काल का ग्रहण करने पर ही हो सकती है। कारण मुक्तावस्था में मूर्त्तासंयुक्त मन का परत्वासमवायिकारणके एक आश्रय मूर्त शरीर आदि के साथ संयोग सम्भव नहीं है। अतः परत्वासमवायिकारण के दूसरे आश्रय नित्य, विभु काल के साथ ही मूर्त्त मन का संयोग सम्भव हो सकता है। मुक्तावस्था से भिन्न मन का तो शरीरादि के साथ संयोग होता ही है। इसलिये अर्थान्तर के निषेध के लिये 'विप्रतिपन्न' अर्थात् मुक्तावस्था के शरीर से असंयुक्त मन को लिया गया है।

रूपादि में बाध के निषेध के लिये 'मन' पद का पक्ष में समावेश हुआ है, कारण रूपादि गुण होने के कारण तथा संयोग दो द्रव्यों में ही सम्भव होने से रूपादि परत्व-अपरत्व के असमवायिकारण का आश्रय कालरूप द्रव्य के साथ संयुक्त नहीं हो सकते, अतः पक्ष में 'मन' पद का ग्रहण उचित ही है। मन विभु आकाश के साथ भी संयुक्त रहता है। अतः अर्थान्तर के निषेध के लिये 'परत्वासमवाय्याश्रयसंयुक्तं' पद का ग्रहण हुआ है।

दिक्कृत परत्व के असमवायिकारण के आश्रय दिक् के साथ भी मन संयुक्त है। अतः इस अर्थान्तर के निषेध के लिये साध्य में 'विवक्षित' पद का समावेश हुआ है। अर्थात् काल के सन्दर्भ में मन परत्वासमवायिकारण के आश्रय काल के साथ ही संयुक्त है।

शब्द के असमवायिकारण के आश्रय आकाश में अतिव्याप्ति के निषेध के लिये साध्य में 'परत्व' पद है। इसी प्रकार सुखादि के असमवायिकारण आत्म-मनःसंयोग के एक आश्रय आत्मा के साथ मन संयुक्त ही है, इसलिये भी साध्य में 'परत्व' पद का समावेश हुआ है।

परत्व के निमित्तकारण अदृष्टादि के आश्रय आत्मा के साथ मन संयुक्त है। अतः इस अर्थान्तर के निषेध के लिये 'असमवायि' पद है।

---

१. प्रकृत में पक्ष है विप्रतिपन्न मन, पक्ष में पक्षता रहेगी, पक्षतावच्छेदक धर्म होंगे—विप्रतिपन्नत्व तथा मनस्त्व दोनों।

आत्मा का परत्वासमवाय्याश्रयभूत पिण्ड (शरीरादि) के साथ ही संयोग सम्भव है। कारण अजसंयोग का निषेध होने के कारण काल तथा आत्मा का संयोग असम्भव है। इस प्रकार आत्मा में पिण्डसंयोग के सिद्ध होने से साध्य की सिद्धि होती है।

ब० टी—अत्रेदं बोध्यम्—परत्वापरत्वे न यावद्द्रव्यभाविनी, किन्त्वपेक्षाबुद्धिविशेषजन्ये तन्नाशादिनाश्ये चोत्पन्नेन परत्वेन ज्येष्ठादिव्यवहारः। यद्वा—बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वादिनायं व्यवहारः। न च तेनैव परत्वादिव्यवहारोपपत्तौ किं परत्वादिनेति वाच्यम्, एतस्य विचारस्य विस्तरभयेनात्रानवसरः, दूरस्थानत्वात्।

विमला—प्रकृत में यह ज्ञातव्य है कि कालकृत या दिक्कृत परत्वापरत्व यावद्द्रव्यभावी गुण नहीं हैं, अपितु अपेक्षाबुद्धि से जन्य हैं। कारण हम जब कहते हैं कि राम लक्ष्मण से बड़ा तथा लक्ष्मण राम से छोटा, तो ये परत्व तथा अपरत्व अपेक्षाबुद्धिजन्य हैं। कारण वही राम दशरथ से छोटा है तथा लक्ष्मण, शत्रुघ्न से बड़ा भी है। अतः स्वतन्त्र रूप से कोई भी व्यक्ति छोटा व बड़ा नहीं है। किसी की अपेक्षा में ही व्यक्ति छोटा अथवा बड़ा होता है। जैसे १० वर्ष का बालक २० वर्ष के युवक की अपेक्षा छोटा तथा ५ वर्ष के बालक की अपेक्षा बड़ा भी है। अतः अपेक्षाबुद्धि के नाश से अथवा परत्व के समवायिकारणीभूत व्यक्ति के नाश से भी परत्वापरत्व का नाश होता है। एवञ्च अपेक्षाबुद्धि के उत्पन्न होने पर ही ज्येष्ठादि का व्यवहार होता है। अथवा बहुतरतपनस्पन्दन से युक्त शरीरवाला ज्येष्ठ तथा सूर्य की कम उपाधियों से युक्त पिण्डवाला व्यक्ति कनिष्ठ कहलाता है।

कुछ लोग परत्वापरत्व को स्वतन्त्र गुण न मान कर संयोग का ही प्रकार मानते हैं, परन्तु यह उचित नहीं, कारण तब कहीं भी परत्व-अपरत्व का व्यवहार निश्चित नहीं हो पायेगा। अतः परत्व, अपरत्व स्वतन्त्र गुण के रूप में अवश्य मान्य हैं, क्योंकि विषयों में अन्तर हुये विना प्रतीतियों में अन्तर नहीं हो सकता। अस्तु परत्व, अपरत्व के विषय में यथास्थान विशद रूप से चर्चा की जायेगी।

दिग्लक्षणम् तत्र प्रमाणञ्च

अनियतपरत्वासमवाय्याश्रयत्वे सति सर्वगता दिक्। विप्रतिपन्नं मनोऽनियतपरत्वासमवाय्याश्रयसंयुक्तम्, द्रव्यत्वादात्मवदिति तत्र प्रमाणम्।

भाषाटीका—ग्रन्थकार ने दिक् का लक्षण करते हुये कहा है :—"अनियतपरत्वाऽपरत्वासमवाय्याश्रयत्वे सति सर्वगता दिक्"। अनियत अर्थात् कालकृत परत्वा-

परत्व से भिन्न जो दिक्कृत परत्व अपरत्व हैं उनके असमवायिकारण (दिक्-पिण्ड-संयोग) का आश्रय होते हुये जो सर्वव्यापक द्रव्य है, वही दिक् है।

'अनियत'[1] पद का अर्थ अनिश्चयात्मक भी हो सकता हैं। अतः अनिश्चयात्मक परत्व-अपरत्व के असमवायिकारण का जो समवायी हो वही दिक् है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, भावात्मक पदार्थों के तीन कारण होते हैं—समवायि, असमवायि तथा निमित्त भेद से। अतः दिक्कृत परत्व-अपरत्व का समवायि कारण है वह द्रव्य, जिसमें दिक्कृत परत्वापरत्व की प्रतीति होती है। दिक्कृत परत्वा-परत्व का असमवायिकारण है—दिक्-पिण्ड-संयोग, इस संयोग का एक आश्रय तो पिण्ड (शरीर) है तथा अन्य आश्रय दिक् ही है। इसलिये दिक्-लक्षण में दिक्कृत परत्वापरत्व का असमवायिकारण जो दिक्-पिण्ड-संयोग, उसका आश्रय दिक् है—ऐसा कहा गया है।

दिक्कृत परत्व-अपरत्व का निमित्तकारण है परत्व-अपरत्व के समवायिकारणी-भूत उस द्रव्य के बहुतर मूर्त्तद्रव्य-संयोग तथा अल्पतरमूर्तद्रव्य संयोग का ज्ञान। निमित्त-कारण का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

जैसे जब कोई मनुष्य पटना से काशी जाता है। तब उसे पटना और काशी के बीच रास्ते पर पड़ने वाले सभी स्थानों = मूर्त्त द्रव्यों को पार करना पड़ता है। फलतः उन स्थानों = मूर्त्त द्रव्यों से संयुक्त होने के बाद मनुष्य का उस भूमि-खण्ड के साथ संयोग होता है, जिसे काशी कहा जाता है। काशी पहुँचने के बाद उसे यह ज्ञान होता कि इतने स्थानों को पार करने के बाद (इतने मूर्त्त द्रव्यों से संयुक्त होने के बाद) काशी प्राप्त हुई है। इस ज्ञान को ही काशी में पटना-काशी के बीच के मूर्त द्रव्यों के संयोग का ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान ही काशी में उत्पन्न होने वाले, पटना से प्रयाग की अपेक्षा अपरत्व का निमित्तकारण है। काशी की अपेक्षा प्रयाग पटना से दूर है अतः काशी की अपेक्षा पटना से प्रयाग में अधिक दूरत्व होने के कारण प्रयाग में परत्व बुद्धि होती है। इसी प्रकार प्रयाग की अपेक्षा काशी के पटना समीप होने के कारण काशी में अपरत्वबुद्धि होती है।

अतः स्पष्ट है कि दिक्कृत परत्व-अपरत्व का असमवायिकारण जो दिक्-पिण्ड-संयोग, उसका आश्रय ही दिक् है।

यह दिक् काल के समान ही नीरूप होने से अप्रत्यक्ष, अतः अनुमानगम्य है। अतः दिक् की सिद्धि में ग्रन्थकार का अनुमान इस प्रकार है—'विप्रतिपन्न अर्थात् मुक्तावस्था में शरीरादिमूर्त्त द्रव्यों से असंयुक्त मन, अनियत (कालकृत से भिन्न) देशिक

१. अनियत इसलिये कहा जाता है कि सूर्य की अधिकतर क्रिया से युक्त वृद्ध पुरुष भी समीपस्थ होने पर, उसमें दिक्कृत अपरत्व कहा जाता है (जब कि काल की दृष्टि से उसमें परत्व है।) इसके विपरीत सूर्य की अल्पतर क्रिया से युक्त युवा पुरुष को दूरस्थ होनेपर, उसमें दिक्कृत परत्व कहा जाता है (जब कि काल दृष्टि से उसमें अपरत्व है)।

परत्व-अपरत्व के असमवायिकारण के आधारभूत किसी विभु द्रव्य के साथ संयुक्त है, द्रव्य होने से आत्मा के समान। आशय यह है कि जिस प्रकार आत्मा विभु द्रव्य होने से दिक्कृत परत्वापरत्व के असमवायिकारण दिक्-पिण्ड-संयोग के एक आश्रय पिण्ड के साथ संयुक्त रहती है, (अज-संयोग के निषेध के कारण विभु आत्मा का विभु दिक् के साथ संयोग नहीं हो सकता) उसी प्रकार मन भी द्रव्य होने से दिक्कृत परत्वा-परत्व के असमवायिकारण दिक्-पिण्ड-संयोग के आश्रय दिक् के साथ संयुक्त रहता है। (कारण मुक्तावस्था में मन का मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयोग समाप्त हो जाता है।) अतः मुक्तावस्था में मन का किसी विभु द्रव्य के साथ संयोग होना हो सम्भव है, वही द्रव्य दिक् हैं। इस प्रकार प्रमाण के द्वारा दिक् की सिद्धि होती है।

ब० टी०—अनियतेति। आश्रयत्वमसमवाय्याश्रयत्वञ्च गगनादौ गतमतः परत्वेति। आत्मन्यगतये असमवायीति। कालत्वेऽनतिप्रसक्तये अनियतेति। अनियतत्वञ्च कालकृतपरत्वादिव्यावृत्तदिक्कृतपरत्वादिनिष्ठो जातिविशेषः। यद्वा बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्यत्वादि यद् बुद्धिजन्यं संयुक्तसंयोगभूयस्त्वादि तद्बुद्धिजन्यत्वं वा। पिण्डेऽतिव्याप्तिभङ्गाय सर्वगतेति।

विमला—न्यायवैशेषिक दर्शन में परिगणित नौ द्रव्यों में सप्तम द्रव्य दिक् या दिशा है। "यह पूर्व है" "यह पश्चिम है" ये पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि के ज्ञान तथा "इससे यह दूर है" "इससे यह निकट है" यह परत्वापरत्व-बुद्धि जिसके द्वारा होती है, वही दिक् है।

प्रमाणमञ्जरीकार ने दिक् का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है :—"अनियत-परत्वाऽपरत्वासमवाय्याश्रयत्वे सति सर्वगता दिक्।"

उपर्युक्त लक्षण में केवल 'आश्रयत्वं' अथवा 'असमवाय्याश्रयत्वं' कहने पर गगनादि में अतिव्याप्ति होती, कारण आकाश सभी द्रव्यों का आश्रय है ही। एवञ्च संयोगज शब्द—जैसे भेरी-जन्य शब्द का असमवायिकारण भेरी-आकाशसंयोग का आश्रय भी आकाश है। अतः इस अतिव्याप्ति के निषेध के लिए उपर्युक्त दिक्-लक्षण में 'परत्व' पद समाविष्ट है। अर्थात् दिक्कृत परत्व का असमवायिकारण जो दिक्-पिण्ड-संयोग, उसका आश्रय आकाश नहीं, अपितु दिक् ही है। परत्व के निमित्त-कारण अदृष्ट के आश्रय आत्मा में अतिव्याप्ति के निरास के लिए 'असमवायि' पद का समावेश हुआ है। काल में अतिप्रसक्ति न हो, अतः 'अनियत' पद रखा गया है। अर्थात् कालकृत परत्वापरत्व से भिन्न जो दिक्कृत परत्वापरत्व हैं, उन्हीं के असमवायिकारण का आश्रय दिक् है।

"अनियतत्व" का अर्थ कालकृत परत्व से भिन्न दिक्कृत परत्वादि में विद्यमान जाति-विशेष है।

अथवा बहुतरतपनपरिस्पन्दन (सूर्य की क्रिया) से युक्त पिण्ड में जिस बार्धक्यादि बुद्धि (बहुतरतपनपरिस्पन्दनसंयोगज्ञान) के द्वारा जो कालकृत परत्व जन्य हो उस बुद्धि से अजन्य तथा बहुतरमूर्तद्रव्यों के साथ जो पिण्ड शरीर-संयुक्त हो, उसके संयोग से जो बहुतरमूर्तद्रव्यों का संयोग-ज्ञान होता है, उससे जन्य किसी द्रव्य में जो परत्व उत्पन्न होता है, उसे ही अनियत परत्व कहते हैं।

अर्थात् जैसे—पटना से काशी की अपेक्षा प्रयाग अधिक दूर है, अतः प्रयाग में परत्व-बुद्धि तथा प्रयाग की अपेक्षा काशी के पटना के समीप होने के कारण काशी में अपरत्व-बुद्धि होती है।

जब कोई मनुष्य पटना से काशी जाता है तब उसका पटना और काशी के बीच के रास्ते पर पड़ने वाले सभी मूर्त्तद्रव्यों (स्थानों) के साथ संयोग होता है। बाद में वह काशी पहुँचता है। काशी पहुँचने के बाद उसे ज्ञान होता है कि इतने मूर्त्तद्रव्यों से संयुक्त होने के बाद काशी प्राप्त हुई है।

इस प्रकार वही मनुष्य और आगे चलता हुआ मार्ग में मूर्त्तद्रव्यों के साथ संयुक्त होकर जब प्रयाग पहुँचता तब उसे पटना से काशी तक के मूर्तद्रव्यों के संयोग का ज्ञान तथा काशी से प्रयाग के बीच के मूर्तद्रव्यों के संयोग का ज्ञान होता है।

स्पष्ट है कि पटना-काशी के बीच के मूर्तद्रव्यों से पटना-प्रयाग के बीच के मूर्त-द्रव्य अधिक हैं एवं पटना-प्रयाग के बीच के मूर्त्तद्रव्यों से पटना-काशी के मूर्त्तद्रव्य अल्प हैं। अतः पटना से काशी के बीच के अल्पतरमूर्त्तद्रव्यों के संयोग का ज्ञान काशी में अपरत्व-बुद्धि तथा पटना-प्रयाग के बीच के बहुतरमूर्त्तद्रव्यों के संयोग का ज्ञान प्रयाग में होने से प्रयाग में परत्व-बुद्धि होती है।

अब प्रश्न हो सकता है कि इन मूर्त्तद्रव्यों का संयोग तो उस मनुष्य के साथ होता है जो पटना से काशी तथा प्रयाग जाता है अतः उस मनुष्य में उन मूर्त्तद्रव्यों का संयोग-ज्ञान होना तो ठीक है, पर काशी तथा प्रयाग में उन मूर्त्तद्रव्यों का संयोग कैसे होता है ?

इसके उत्तर में यही कहा जाता है कि उन अल्पतर-बहुतर मूर्त्तद्रव्यों का संयोग काशी तथा प्रयाग के साथ साक्षात् नहीं होता, परन्तु परम्परया होता है। इसके लिए ऐसे एक विभुद्रव्य की कल्पना आवश्यक है, जिसका मूर्त्तद्रव्यों के साथ-साथ काशी तथा प्रयाग के साथ भी साक्षात् सम्बन्ध हो। इस सम्बन्ध को 'स्वाश्रयसंयोग' अथवा 'संयुक्तसंयोग' कहते हैं। स्व अर्थात् मूर्त्तद्रव्यों का मनुष्यों के साथ संयोग, उसका आश्रय कोई द्रव्य और उसका संयोग होगा काशी और प्रयाग में।

इस प्रकार पटना-काशी के बीच तथा पटना-प्रयाग के बीच मार्ग से स्थित मूर्तद्रव्यों के साथ पटना से काशी तथा प्रयाग जाने वाले मनुष्य के संयोगों को काशी और प्रयाग के साथ जोड़ने वाले सम्बन्ध के सम्पादनार्थ जो द्रव्य स्वीकार्य होगा, वह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, आत्मा और मन से भिन्न होगा, क्योंकि इनमें आकाश, काल,

और आत्मा से भिन्न कोई भी द्रव्य विभु नहीं है। अतः वे स्वयं परिच्छिन्न होने के कारण उन सभी संयोगों से साक्षात् सम्बद्ध नहीं हो सकते।

आकाश और आत्मा के साथ भी मनुष्यों के साथ होने वाले मूर्त द्रव्यों के संयोग का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। काल के साथ यद्यपि कालिक सम्बन्ध होता है, परन्तु काल को तो सूर्य-क्रिया को पिण्ड तक पहुँचाने के लिये स्वीकार किया गया है, अब यदि उसी को मूर्त द्रव्यों के संयोग को अन्य के साथ जोड़ने के लिये स्वीकार किया जाय तो काल ही अन्य किसी के गुण-धर्म को अन्य तक पहुंचाने का कर्म करने लगेगा। तब तो काशी-स्थित जपाकुसुम से प्रयाग-स्थित स्फटिकमणि में अरुणिमा आ जायेगी, परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता। अतः जिस प्रकार सूर्यक्रिया को पिण्ड तक पहुँचाने के लिये एक स्वतन्त्र काल नामक द्रव्य को स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार अन्य-निष्ठ मूर्त द्रव्यों के संयोग को अन्य तक पहुँचाने के लिये एक स्वतन्त्र द्रव्य मानना उचित है, वही द्रव्य दिक् है।

इस प्रकार वह दिक् नामक द्रव्य ही दैशिकविशेषणता सम्बन्ध से पटना से काशी तथा प्रयाग के बीच के मूर्तद्रव्यों के साथ मनुष्य का होने वाले संयोग को काशी तथा प्रयाग तक पहुँचाता है। इसी सम्बन्ध को टीकाकार ने 'संयुक्तसंयोग' कहा है। अर्थात् मूर्तद्रव्यों के साथ मनुष्य का संयोग तथा दिक् के द्वारा वह संयोग परम्परया काशी आदि के साथ सम्बद्ध है।

अतः दिक्-लक्षण में प्रयुक्त "अनियत" पद का अर्थ बहुतरतपनपरिस्पन्दन-संयोगज्ञान से अजन्य तथा बहुतरमूर्तद्रव्यसंयुक्तसंयोगज्ञान से जन्य दिक्कृत परत्व तथा अपरत्व है। अर्थात् यह दिक्कृत परत्वापरत्व कालकृत परत्वापरत्व से उत्पन्न ज्येष्ठत्व-कनिष्ठत्व के समान नहीं हैं।

इसका तात्पर्य यही है कि सूर्य की क्रिया के साथ जिस शरीर का सम्बन्ध हुआ है, उस शरीर में कालकृत परत्व (ज्येष्ठत्व) या अपरत्व (कनिष्ठत्व) व्यवस्थित-सुनिश्चित है। इसका वैपरीत्य नहीं होता है। परन्तु दिक्कृत परत्व को हम किसी दूसरे स्थान से अपर भी कह सकते हैं तथा जिस प्राणी के लिये जो पूर्व दिशा है, वही दिशा उसी प्राणी के लिये पश्चिम भी हो जाती हैं। इसलिये ग्रन्थकार ने दिक्कृत परत्वापरत्व को 'अनियत' कहा है।

पिण्ड (शरीरादि) भी दिक्कृत परत्वापरत्व के असमवायिकारण का एक आश्रय है। अतः उसमें अतिव्याप्ति के निषेध के लिये ग्रन्थकार ने लक्षण में 'सर्वगतः' पद को रखा है।

ब० टी०—विप्रतिपन्नमिति। दिक्साधकानुमानेऽनियतपदं काल-संयुक्तत्वेनार्थान्तरवारणाय। साध्ये विवक्षितत्वञ्चेत्, तदानियतत्वमेव तदर्थः। क्वचिदविवक्षितमपि पाठः। तदविवक्षितं परत्वं कालकृतं तद्भिन्नत्वमित्यर्थः। शेषं पूर्ववत्।

विमला—दिक् की सिद्धि में ग्रन्थकार का अनुमान प्रमाण है—"विप्रतिपन्नं-मनोऽनियतपरत्वासमवाय्याश्रयसंयुक्तम्, द्रव्यत्वात्, आत्मवत् ।"

उक्त दिक्साधक अनुमान के साध्य में 'अनियत' पद काल-संयुक्तत्व-रूप अर्थान्तर के निषेध के लिये है, क्योंकि कालकृत परत्व के असमवायिकारण के आश्रय काल के साथ भी मन संयुक्त है। अतः इस अर्थान्तर के निषेध के लिये साध्य में 'अनियत' पद है।

साध्य में यदि विविक्षित पद होता तो उसका भी वही 'अनियतत्व' रूप ही अर्थ होता। कहीं 'अविवक्षित' भी पाठ है। वह 'अविवक्षित' पद भी जो प्रकृत में वर्णनीय नहीं है ऐसे जो कालकृत परत्व, उससे भिन्न दैशिक परत्व के अर्थ में ही प्रयुक्त है। अर्थात् कालिक परत्व से भिन्न दैशिक परत्व हो प्रकृत में विवक्षित है। शेष पदकृत्य काल-साधक अनुमान कें समान है।

दिक्कालयोस्समुच्चित्य प्रमाणम्

मनसा असंयुक्तं मनः सर्वदा विशेषगुणरहितद्रव्यद्वयसंयुक्तम्, द्रव्यत्वादात्मवदिति दिक्कालयोः प्रमाणम् । अत्र द्रव्यद्वये कल्पितेऽन्यत्र तेनैव व्यवहारसिद्धेः, अनेककल्पनायां प्रमाणाभावः । दिक्कालौ द्रव्यत्वावान्तरजातिरहितौ बुद्धयनाधारत्वे सति सर्वगतत्वादाकाशवदित्येकत्वं सिद्धम् ।

भाषाटोका—दिक् तथा काल की एक प्रमाण के द्वारा सिद्धि :—

प्रमाणमञ्जरीकार ने पहले पृथक्-पृथक् लक्षण तथा प्रमाण के द्वारा दिक्-काल की सिद्धि कर पुनः एक अनुमान प्रमाण के द्वारा उक्त दोनों द्रव्यों की सिद्धि की है—

"मन से असंयुक्त मन, सर्वदा विशेषगुणरहित द्रव्यद्वय से संयुक्त है, द्रव्य होने से, आत्मा के समान।" जिसप्रकार आत्मा द्रव्य होते हुये सर्वदा विशेषगुण-रहित द्रव्यद्वय से संयुक्त है उसी प्रकार मन से असंयुक्त मन (एक शरीरनिष्ठ मन का अन्य शरीरनिष्ठ मन से अणुपरिमाणविशिष्ट होने के कारण साक्षात् संयोग नहीं हो सकता। इसीलिए उक्त दिक्-काल-साधकानुमान के पक्ष में 'मनसा असंयुक्तं मनः' कहा गया है) अतः मन भी आत्मा के समान द्रव्य होने से सर्वदा किसी विशेषगुणरहितद्रव्यद्वय से संयुक्त रहेगा। अब यह विचारणीय है कि विशेषगुणरहित तीन ही द्रव्य वैशेषिक दर्शन में प्रसिद्ध हैं—काल, दिक् तथा मन। इनमें से काल तथा दिक् के विभु होने से विभु आत्मा का इन दो द्रव्यों से संयोग सम्भव नहीं है। अब शेष रहा मन। आत्मा विभु है तथा मन अणुपरिमाणविशिष्ट मूर्त द्रव्य है। अतः विभु आत्मा का अणुपरिमाणविशिष्ट मूर्त द्रव्य, जो कि विशेषगुण से भी रहित है—ऐसे दो मन से संयोग सम्भव है। परन्तु मन का विशेषगुणरहित अन्य शरीरनिष्ठ मन के साथ संयोग नहीं हो सकता। अतः

मन से असंयुक्त मन सर्वदा जिन दो विशेषगुणरहित विभु द्रव्यों से संयुक्त रहता है वे ही दो द्रव्य काल तथा दिक् हैं। दिक् तथा काल के विभु द्रव्य होने से मन का इनके साथ संयोग सम्भव है।

अतः उपर्युक्त प्रमाण से दिक् और काल की सिद्धि होती है।

दिक् तथा काल के एकत्व में प्रमाण

न्याय-वैशेषिक दर्शन में दिक् तथा काल को आकाश के ही समान एक-एक अखण्ड भावात्मक विभुद्रव्य माना गया है। अतः प्रमाणमञ्जरीकार के अनुसार भी दिक् तथा काल एक-एक द्रव्य हैं। उनका कहना है कि उपर्युक्त अनुमान में दिक् तथा काल—इन दो द्रव्यों की सिद्धि होने पर अन्यत्र भी इन्हीं दो द्रव्यों से लोकव्यवहार चल जाने से काल तथा दिक् का एकत्व स्वीकार किया गया है। तथाच इनके अनेकत्व की कल्पना में गौरव भी है। अतः प्रमाणाभाव से इनका अनेकत्व नहीं, अपितु एकत्व स्वीकरणीय है।

दिक्काल के एकत्व की सिद्धि के लिए उपर्युक्त अनुमानप्रमाण की उपस्थापना की गई है,—'दिक्कालौ द्रव्यत्वावान्तरजातिरहितौ बुद्ध्यानाधारत्वे सति सर्वगतत्वादाकाशवदित्येकत्वं सिद्धम्''। अर्थात् दिक् तथा काल द्रव्यत्वावान्तर (दिक्त्व, कालत्व) जाति से रहित हैं, बुद्धि के अनाधार होते हुये सर्वव्यापक होने से, आकाश के समान। जिसप्रकार आकाश व्यापक होने से द्रव्यत्व की अवान्तर जाति से रहित है तथा बुद्धि का अनाधार भी है (यतः बुद्धि का आधार केवल आत्मा है) अतः आकाश के एकत्व की सिद्धि होती है, कारण एक व्यक्ति में जाति नहीं होती। अतः पृथिवीत्व, जलत्व, तेजस्त्व आदि के समान आकाशत्व जाति नहीं, अपितु उपाधि है। 'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं' आदि जातिबाधक तत्त्व हैं।

आकाश के समान काल तथा दिक् भी सर्वव्यापक तथा बुद्धि के अनाधार होने से द्रव्यत्वावान्तर जाति से रहित हैं। अतः काल तथा दिक् भी एक-एक द्रव्य है। दिक्त्व, कालत्व तथा आकाशत्व—ये जाति नहीं, उपाधि हैं। कारण किसी एक व्यक्ति में जाति नहीं होती।

इस प्रकार आकाश के समान दिक् तथा काल के भी द्रव्यत्वावान्तर जाति से रहित होने से उनमें आकाश के समान एकत्व की सिद्धि हुई।

ब० टी०—उभयत्र प्रमाणमाह—मनसेति। मनसि मनोद्वयसंयुक्तत्वेनार्थान्तरभङ्गाय मनसा असंयुक्तमिति। आकाशादिसंयुक्तत्वेनाश्रयासिद्धिवारणाय मनसेति। साक्षान्मनसा यत्र संयुक्तमित्यर्थः। तेन परम्परया मनसि मनस्संयुक्तत्वेनापि नाश्रयासिद्धिः। रूपादौ बाधवारणाय मन इति। संयुक्तत्वे द्वयसंयुक्तत्वे द्रव्यद्वयसंयुक्तत्वे च साध्येऽर्थान्तरम्, प्रथमक्षणे

घटपदादिरपि गुणरहितः। एवमुक्तौ खण्डप्रलये च जीवव्योमनी विशेष-गुणरहिते, अतः सर्वदेति। औपाधिक एव दिक्कालयोर्भेदः, न साहजिक इत्याह—अत्रेति।

विमला—योगियों के मन का अन्य मन के साथ संयोग होता ही है—यह तो पहले से ही सिद्ध है। अब यदि पक्ष में 'मनसा असंयुक्तं मनः' पद न रखते तो केवल 'मनः सर्वदा विशेषगुणरहितद्रव्यद्वयसंयुक्तं' कहने पर विशेष गुणरहित दो मन के साथ योगियों के मन का संयोग होने से दो मन की ही सिद्धि होती जो कि पहले से ही सिद्ध हैं। अतः सिद्धसाधनता की आपत्ति होती, एवञ्च सिद्ध करने चले थे दिक् तथा काल, परन्तु सिद्ध हुये दो मन—इस प्रकार अर्थान्तर भी स्पष्ट है। अतः पक्ष में 'मनसा असंयुक्तं मनः' कहा गया है। साधारणतः न्यायवैशेषिक दर्शन में मन के अणु तथा अन्तरिन्द्रिय होने से एक मन का दूसरे मन के साथ साक्षाद्रूपेण संयोग नहीं माना गया है। परन्तु फिर भी योगियों के अन्य मन से संयुक्त मन में अतिव्याप्ति के निरास के लिए ही पक्ष में 'मनसा असंयुक्तं मनः' इन पदों का समावेश हुआ है।

मात्र 'असंयुक्तं मनः' कहने पर आकाशादि विभु द्रव्यों के साथ मूर्त्त मन का संयोग होने से आश्रयासिद्धि होती, इसीलिये पक्ष में 'मनसा' पद का समावेश हुआ है। 'मनसा असंयुक्तं मनः' का अर्थ है साक्षाद्रूपेण एक मन अन्य मन के साथ संयुक्त नहीं है। (संयोग सम्बन्ध से साक्षाद्रूपेण सम्बद्ध नहीं है)।

इस प्रकार अर्थ करने पर मन के साथ मन का परम्परया संयोग होने पर भी आश्रयासिद्धि नहीं होगी। परम्परया अर्थात् एक मूर्त्त मन जिस विभु द्रव्य आकाश के साथ संयुक्त है उसी विभु द्रव्य के साथ अन्य मन भी संयुक्त हैं। एक शरीर से संयुक्त शरीरान्तर के मन के साथ भी प्रथम शरीर के मन का परम्परया संयोग रहता है। इस प्रकार परम्परया एक मन दूसरे मन के साथ संयुक्त हो ही सकता है, परन्तु साक्षाद्रूपेण नहीं, इस प्रकार 'मनसा असंयुक्तं मनः' पद के देने से आश्रयासिद्धि नहीं रही।

केवल 'मनसा असंयुक्तम्' कहने पर रूपादि में बाध होगा, कारण मन से असंयुक्त तो रूपादि भी हैं, किन्तु वे विशेषगुणरहित द्रव्यद्वय से संयुक्त नहीं है, अतः इस बाध के निराकरणार्थ पक्ष में 'मन' पद समाविष्ट है।

साध्य में मात्र 'संयुक्तम्' कहने पर मन के मूर्त्त होने से और आत्मा तथा आकाश आदि के विभु होने से मन आत्मा तथा आकाशादि के साथ संयुक्त होने के कारण अर्थान्तर या सिद्धसाधन दोष होता; तथा किसी भी पदार्थ के प्रत्यक्षज्ञान में मन इन्द्रियों के साथ-साथ शरीर के साथ भी संयुक्त रहता है, अतः इस दृष्टि से भी अर्थान्तर होता।

इसी प्रकार साध्य में केवल 'द्वयसंयुक्तम्' कहने पर भी आत्मा, आकाश तथा इन्द्रियादि में अतिव्याप्ति होने से अर्थान्तर दोष होगा।

यदि साध्य में 'द्रव्यद्वयसंयुक्तम्' कहा जाय तो मनःसंयुक्त आत्मा तथा आकाश में अतिव्याप्ति तो स्पष्ट ही है।

साध्य में 'गुणरहितद्रव्यद्वयसंयुक्तम्' इन पदों को रखने पर किसी भी द्रव्य के गुणरहित न होने से, (एवञ्च गुणरहित तो स्वयं गुण होते तथा सामान्यादि पदार्थ होते हैं जिनके साथ साक्षात् रूप से मन संयुक्त नहीं होता समवायादि सम्बन्ध से भले ही सम्वद्ध हो कारण दो द्रव्यों में ही संयोग संभव है, अतः) 'विशेष' पद का समावेश साध्य में किया गया है।

उत्पत्ति के प्रथम क्षण में घट-पटादि भी गुणरहित होते हैं, इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि किसी भी बाह्य द्रव्य से मन का संयोग नहीं हो सकता, कारण घट-पटादि के साथ मन का दो ही प्रकार से संयोग संभव है या तो मन ही शरीर से बाहर निकल कर घट-पटादि के पास पहुँच जाय अथवा घट-पट ही शरीर के भीतर मन के पास पहुँच जाय। घट-पट का शरीर के भीतर मन के पास न पहुँचना तो प्रत्यक्षसिद्ध है एवं मन के भी अणु होने से शरीर के बाहर निकलने से शरोर मनरहित हो जाता, अतः घट-पटादि के साथ अन्तरिन्द्रिय मन का संयोग सम्भव नहीं। व्यापक द्रव्य आकाशादि तो शरीर के भीतर भी रहने से मन के साथ संयुक्त हो सकते हैं। खण्ड प्रलय में जीव तथा आकाश विशेषगुणरहित होते हैं। (यहाँ ज्ञातव्य है कि जीव कभी सम्पूर्ण रूप से विशेषगुणरहित नहीं हो सकता। उसमें अदृष्ट धर्माधर्मरूप तथा संस्कार बने ही रहते हैं)। परन्तु शब्द अनित्य होने से प्रलयकाल में आकाश शब्द-रहित होता है। अतः आकाश में अतिव्याप्ति के निरास के लिए 'सर्वदा' पद समाविष्ट है। अर्थात् जो सर्वदा विशेषगुण से रहित होते हैं उन्हीं द्रव्य-द्वय से मन संयुक्त हैं—यही उपर्युक्त साध्य का अर्थ है, आकाश, जीव तथा घट-पटादि सर्वदा विशेष-गुणरहित नही है। अतः 'सर्वदा' पद से उनमें अतिव्याप्ति निरस्त हुई।

न्याय-वैशेषिक-दर्शन में दिक् तथा काल को आकाश के ही समान एक तथा विभु द्रव्य माना गया है।

पूर्वपक्षी आशंका कर सकते हैं कि दिक् के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि भेद तथा काल के दिन, रात, घंटा, मिनट, सेकेंड आदि भेद प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं एवं 'इस कल्प में अन्य दिक् काल' तथा 'उस कल्प में अन्य दिक् काल' इस प्रकार के शब्द-व्यवहार से भी दिक् तथा काल का आनन्त्य सिद्ध है। अतः आप वैशेषिक दिक् तथा काल को एक-एक कैसे मान सकते हैं ?

इसके उत्तर में टीकाकार का कहना है कि दिक्-काल के जो भेद दिखाई देते हैं वे औपाधिक भेद हैं, वास्तविक भेद नहीं। अतः ग्रन्थकार का कथन है कि दिक् तथा काल इन दो द्रव्यों को मान लेने पर अन्यत्र भी इन्हीं दो द्रव्यों से लोक-व्यवहार चल जाने से काल तथा दिक् का एकत्व सिद्ध है। इनके अनेकत्व की कल्पना में प्रमाणाभाव है।

ब० टी०—एकत्वे प्रमाणमाह—दिक्कालाविति। जातिरहितत्वं द्रव्यान्तरजातिरहितत्वं द्रव्यत्वावान्तरधर्मरहितत्वञ्च बाधितम्। अतो विशिष्टसाध्यकीर्तनम्। आत्मनि व्यभिचारभङ्गाय सत्यन्तम्, घटादौ व्यभिचारभङ्गाय विशेष्यभागः।

विमला—दिक् तथा काल के एकत्व में प्रमाण है:—"दिक्कालौ द्रव्यत्वावान्तर-जातिरहितौ बुद्ध्यनाधारत्वे सति सर्वगतत्वादाकाशवद्।"

ग्रन्थकार के उक्त दिक्-काल के एकत्व-साधक अनुमान के साध्य में मात्र 'जाति-रहितौ' कहने पर बाध होता, कारण दिक् तथा काल में सत्ता, द्रव्यत्व जाति तो है ही। यदि साध्य में 'द्रव्यान्तरजातिरहितौ' कहते तो द्रव्य से अन्य जो गुणादि, उनमें रहने वाली सत्ता जाति से काल, दिक्, क युक्त होने से पुनः बाध होता। 'द्रव्यत्वावान्तरधर्मरहितौ' कहने पर बाध होता, क्योंकि द्रव्यत्वावान्तर धर्म कालत्व तथा दिक्त्व से तो काल तथा दिक् युक्त ही है। अतः उपर्युक्त बाधों के निराकरणार्थ उक्त अनुमान के साध्य में 'द्रव्यत्वावान्तरजातिरहितौ' इन पदों का समावेश किया गया है।

हेतु में केवल 'सर्वगतत्वात्' पद को कहने से आत्मा में व्यभिचार होता, जो सर्वगत (व्यापक) होते हुए भी अनेक होने से द्रव्यत्वावान्तर जाति से रहित नहीं है। अतः साध्याभाव में हेतु के गमन से व्यभिचार होता। इसीलिए हेतु में 'बुद्ध्यना-धारत्वे सति' इस सत्यन्त पद का समावेश किया गया है। घटादि भी बुद्धि के अनाधार हैं अतः उनमें व्यभिचार के निषेध के लिए 'सर्वगतत्वात्' पद हेतु में समाविष्ट है। इस प्रकार उक्त अनुमान से दिक् तथा काल में एकत्व सिद्ध है।

दिक्कालयोस्सर्वकार्यनिमित्तत्वं सर्वगतत्वञ्च

विप्रतिपन्नं सर्वं कार्यं दिक्कालकार्यम्, कार्यत्वात्, सम्प्रतिपन्न-वदिति तयोस्सर्वकार्यनिमित्तत्वम्। आकाशकालदिशः सर्वगताः मनोव्यति-रिक्तत्वे सत्यस्पर्शद्रव्यत्वात् आत्मवदिति सर्वगतत्वम्। संख्यादिपञ्च-गुणवत्त्वं कालदिशोः।

भाषाटीका—न्याय-वैशेषिक-दर्शन में दिक् तथा काल को कार्यमात्र के प्रति निमित्त कारण माना गया है। प्रमाणमञ्जरीकार दिक् तथा काल की कार्यमात्र के प्रति कारणता (निमित्त-कारणता) को अनुमान के द्वारा स्वीकारकरते हैं—

विप्रतिपन्न कार्य का अर्थ है जो कार्य अभी विचारणीय हैं या अनिश्चित हैं—ऐसे सभी कार्य दिक् तथा काल के कार्य हैं, कार्य होने से, निश्चित कार्य के समान।

सम्प्रतिपन्न कार्य का अर्थ है जिस कार्य के प्रति दिक्काल के कारणत्व के विषय में सभी सहमत हैं। अतः अनुमान का तात्पर्यार्थ इस प्रकार होगा—जिस प्रकार सम्प्रतिपन्न कार्यों का दिक्-काल में कारणत्व देखा गया है। उसी प्रकार विप्रतिपन्न कार्य के भी कार्य होने से उनके प्रति अवश्य दिक्-काल में कारणत्व स्वीकरणीय होगा, क्योंकि सभी कार्य किसी न किसी समय में तथा किसी न किसी स्थान में अवश्य होते हैं। इसप्रकार दिक् तथा काल का कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारणत्व सिद्ध है।

इसके पूर्व सभी शब्दों के आश्रयत्वेन आकाश की व्यापकता सूचित की गई थी। एवञ्च दिक्-काल का सर्वगतत्व भी इनके लक्षणों द्वारा ही सिद्ध हुआ था। पुनः प्रमाणासम्भव के परिहार के लिए तथा आकाश, काल, दिक् के अमूर्त होने से इनका मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग किस प्रकार सम्भव है—इस प्रश्न के समाधानार्थ आकाश, काल तथा दिशा के सर्वगतत्व की सिद्धि में अनुमान प्रमाण की उपस्थापना की गई है:—

आकाश, काल तथा दिशा—ये सर्वव्यापक (विभु) द्रव्य हैं, मन से अतिरिक्त द्रव्य होते हुये स्पर्शशून्य द्रव्य होने से, आत्मा के समान। अर्थात् जिस प्रकार आत्मा मन से भिन्न तथा स्पर्शरहित होने से सर्वव्यापक द्रव्य है, उसी प्रकार आकाश, काल तथा दिक् भी मन से भिन्न तथा स्पर्शशून्य होने से अवश्य ही सर्वव्यापक द्रव्य हैं।

दिक् तथा काल संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग—इन पाँच गुणों से युक्त हैं। काल तथा दिक् में परममहत्परिमाण माना गया है।

ब० टी०—दिक्कालयोस्सर्वनिमित्तत्वं साधयति—विप्रतिपन्नमिति, दिक्कालसमवेतातिरिक्तं कार्यमित्यर्थः। इदन्तु विशेषणं यन्मते पक्षातिरिक्तस्यैव दृष्टान्तता तन्मते दृष्टान्तासिद्धिवारणाय। सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तता-सिद्धये सर्वमिति। व्योमादौ बाधवारणाय कार्यमिति। पूर्वमाकाशे सर्वशब्दाश्रयत्वेन व्यापकत्वं सूचितम्, दिक्कालयोश्च सर्वगत्वं लक्षणयोः सूचितम्, तत्साधयति—आकाशेति, मनसि व्यभिचारभङ्गाय सत्यन्तम्। घटादौ व्यभिचारवारणाय अस्पर्शवदिति। गुणादौ व्यभिचारवारणाय द्रव्यत्वादिति। सर्वदा स्पर्शरहितत्वं बोध्यम्।

विमला—दिक् तथा काल को कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारणता की सिद्धि में प्रमाण है :—

'विप्रतिपन्नं सर्वं कार्यं दिक्कालकार्यम्, कार्यत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्'

विप्रतिपन्न-रूप विशेषण उक्त अनुमान के पक्ष में इसीलिये सन्निविष्ट है कि दिक् तथा काल में समवेत कार्य संयोग तथा विभाग हैं जो कि पहले से ही सिद्ध हैं। अतः

उनके अतिरिक्त (अर्थात् जो सिद्ध हैं उन्हें छोड़) अन्य सभी कार्यों को पक्ष में लिया गया है। इसका आशय यही है कि काल तथा दिक् के पाँच ही गुण हैं—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग—इनमें से दिक्-काल की एकत्व संख्या परममहत्परिमाण तथा एक-पृथक्त्व ये तीनों गुण नित्य हैं अतः ये कार्य नहीं हैं। मात्र संयोग तथा विभाग के ही अनित्य होने से वे दिक्-काल से जन्य हैं। इन दो गुणों की समवाय सम्बन्ध से दिक्-काल में उत्पत्ति तो सिद्ध ही है। अतः इन्हें दृष्टान्त के रूप में रखा गया है। इन दो कार्यों को छोड़ शेष सभी कार्य पक्ष में सन्निविष्ट हैं। यही अर्थ विप्रतिपन्न पद से सूचित होता है। जो पक्ष से अतिरिक्त को ही दृष्टान्त मानना पसन्द करते हैं उनके मत में दृष्टान्तासिद्धि के निषेध के लिए पक्ष में 'विप्रतिपन्न' पद को रख कर सिद्ध कार्यों को पक्ष से बहिर्भूत कर दृष्टान्त के रूप में रखा गया है।

इसके पहले आकाश में सभी शब्दों के आश्रय के रूप में व्यापकत्व की सिद्धि हुई थी। एवञ्च दिक् तथा काल में भी व्यापकता इनके लक्षणों द्वारा ही सिद्ध की गई थी। तथापि पुनः अनुमान-प्रमाण के द्वारा ग्रन्थकार आकाश, काल तथा दिक् में व्यापकता को सिद्ध करते हैं :—

"आकाशकालदिशः सर्वगताः मनोव्यतिरिक्तत्वे सति अस्पर्शद्रव्यत्वात् आत्मवत्"।

मन में व्यभिचार के निरास के लिए उक्त अनुमान के हेतु में विशेषण के रूप में 'मनोव्यतिरिक्तत्वे सति' इस सत्यन्त पद का समावेश किया गया है। कारण मन भी सर्वदा स्पर्शशून्य है, परन्तु सर्वगत नहीं। घटादि भी मन से अतिरिक्त द्रव्य हैं परन्तु सर्वगत नहीं, अतः उनमें व्यभिचार के निराकरणार्थ 'अस्पर्शद्रव्यत्वात्' इस हेतु का ग्रहण हुआ है, क्योंकि घटादि सभी पार्थिव द्रव्यों, जल, तेज तथा वायु स्पर्शवान् द्रव्य हैं। गुणादि मन से अतिरिक्त हैं तथा गुण में गुण न रहने के कारण स्पर्शशून्य हैं परन्तु सर्वगत नहीं हैं, अतः गुणादि में व्यभिचार के निरास के लिए 'द्रव्यत्वात्' पद हेतु में रखा गया है। 'अस्पर्शद्रव्यत्वात्' इस हेतु के आगे 'सर्वदा' पद भी देय है, अन्यथा उत्पत्ति के प्रथमक्षण के अस्पर्शवान् द्रव्यों में (जो उत्पत्ति क्षण में स्पर्शरहित हैं उनमें) व्यभिचार की संभावना है।

आत्मनिरूपणम् तद्विभागश्च

बुद्ध्याश्रय आत्मा। स द्वेधा—ईशानीशभेदात्। पूर्वत्र प्रमाणम्—आत्मत्वं नित्यविशेषगुणवद्वृत्ति, आत्मजातित्वात्, सत्तावदिति। ईशज्ञानं नित्यम्, अनन्तकार्यहेतुत्वात्, कालवदिति तज्ज्ञानं नित्यम्। विप्रतिपन्नं सर्वं कार्यं विवक्षितज्ञानजम्, कार्यत्वात्, सम्प्रतिपन्नवदित्यनन्तहेतुत्वं सिद्धम्।

भाषाटीका—ग्रन्थकार ने आत्मा का लक्षण इसप्रकार किया है—

"बुद्धि (ज्ञान) का आश्रय[1] आत्मा है।" वह आत्मा दो प्रकार की है—(१) ईश (परमात्मा) तथा (२) अनीश (जीवात्मा) के भेद से। ईश्वरसाधक प्रमाण—आत्मा का प्रथम भेद जो ईश्वर-रूप है, उसकी सिद्धि में यह अनुमान प्रमाण है—"आत्मत्व जाति नित्यविशेषगुणवाले द्रव्य में विद्यमान है, आत्मा की जाति होने से, सत्ता के समान।"

इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार सत्ता आत्मनिष्ठ जाति होने से (यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सत्ता द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीनों में रहती है। अतः आत्मा द्रव्य होने से उसमें सत्ता अवश्य रहेगी) नित्यविशेषगुणवान् द्रव्य जलीय परमाणु में रहती है, उसी प्रकार आत्मत्व जाति भी आत्मनिष्ठ जाति होने होने से अवश्य ही किसी नित्यविशेषगुणवान् द्रव्य में रहेगी, वही द्रव्य परमात्मारूप ईश्वर है।

जल, तेज, वायु के परमाणुओं में विद्यमान रूप, रस, स्पर्शादि नित्यविशेषगुण हैं। एवञ्च परमात्मा ईश्वर के विशेषगुण ज्ञान, इच्छादि नित्य हैं। जीवात्मा के सभी विशेषगुण अनित्य हैं। आकाश का शब्द भी अनित्य है। अतः आत्मत्व जाति के नित्य-विशेषगुणवान् जल, तेज, वायु आदि के परमाणुओं में वृत्ति असम्भव होने से परिशेषात् आत्मत्व जाति के आत्मनिष्ठ होने से आत्मत्व जाति की नित्यविशेषगुणवान् द्रव्य ईश्वर (परमात्मा) में ही वृत्ति सिद्ध होती है।

ईश्वर के ज्ञान की नित्यता—

ग्रन्थकार का ईश्वर के ज्ञान में नित्यत्वसाधक अनुमान इस प्रकार है—'ईश्वर का ज्ञान नित्य है, अनन्त कार्यों के हेतु (कारण) होने से काल के समान। 'जिस प्रकार काल कार्यमात्र के प्रति कारण होने से नित्य है, उसी प्रकार अनन्त कार्यों के प्रति कारण होने से ईश्वर का ज्ञान भी नित्य है। इस प्रकार ईश्वर के ज्ञान में नित्यत्व की सिद्धि होती है।

ईश्वर के ज्ञान की अनन्त कार्यों के प्रति निमित्तकारणता—

प्रमाणमञ्जरीकार ने ईश-ज्ञान में अनन्त कार्यों के प्रति कारणत्व को अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया है—

'विप्रतिपन्नं' अर्थात् अस्मदादिज्ञानजन्य घट, पट, मठादि सभी कार्य अथवा क्षित्यङ्कुरादि सभी कार्य ईश्वर के ज्ञान से जन्य हैं, कार्य होने से, सम्प्रतिपन्न कार्य

---

१. आश्रय कई प्रकार के होते हैं—मुख्य अथवा गौण। बुद्धि (ज्ञान) का एक आश्रय घट, पट, पुस्तकादि भी हैं, परन्तु विषयता सम्बन्ध से ही ज्ञान पुस्तकादि में आश्रित हैं। अतः घट, पटादि ज्ञान के गौण आश्रय हैं। बुद्धि (ज्ञान) आत्मा में समवायसम्बन्ध से आश्रित है। अतः आत्मा ज्ञान का मुख्य आश्रय है।

अर्थात् द्व्यणुकादि के समान। तात्पर्य यही है कि द्व्यणुकादि कार्यों में ईश्वर-ज्ञान-जन्यत्व सिद्ध ही है, क्योंकि द्व्यणुक की रचना के लिये उसके समवायिकारणीभूत द्रव्य परमाणुद्वय का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है, जो कि केवल ईश्वर में ही सम्भव है। अतः द्व्यणुकादि में ईश्वर-ज्ञान-जन्यत्व सिद्ध है, इस प्रकार सभी कार्यों का कारण ईश्वर ही है। अतः ईश्वर के ज्ञान में अनन्त कार्यों के प्रति कारणता (साधारणकारणत्व) सिद्ध है।

ब० टी०—आत्मत्वमिति। वृत्तिमत्त्वे गुणवद्वृत्तिमत्त्वे विशेषगुणवद्वृत्तिमत्त्वे वार्थान्तरे व्यभिचारवारणाय नित्येति। नित्यपरिमाणवद्वृत्तित्वेनार्थान्तरभङ्गाय विशेषेति। नित्यो यो विशेषपदार्थः तद्वृत्तित्वेनार्थान्तरवारणाय गुणेति। पृथिवीत्वादौ व्यभिचारवारणाय आत्मेति। आत्मघटवृत्तिद्वित्वान्यतरत्वादौ व्यभिचारवारणाय जातित्वादिति। न च संसार्यात्मत्वे व्यभिचारः, तस्याजातित्वात्। जातित्वेऽपि वा तद्भिन्नत्वेन हेतुविशेषणात्।

विमला—इस निखिल विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों में एकमात्र आत्मा ही चैतन्य-गुण-विशिष्ट तत्त्व है। जीवन के समस्त व्यवहारों का सम्बन्ध आत्मा से ही है। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' यह बृहदारण्यक की उक्ति सुप्रसिद्ध है। इसलिये दार्शनिक विचारों का केन्द्रबिन्दु भी आत्मा ही है। आत्मा के अस्तित्व के समर्थन में प्रस्तुत किये गये प्रमाण इतने सशक्त हैं कि वस्तुवादी पाश्चात्य दार्शनिकों के द्वारा भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने आत्मा का विभिन्न लक्षण किया है।

प्रमाणमञ्जरीकार ने सर्वप्रथम "बुद्ध्याश्रय आत्मा" इस प्रकार आत्मा का लक्षण किया है। बाद में उसके दो प्रकारों को प्रस्तुत करते हुये कहा है—"स द्वेधा ईशानीशभेदात्"।

इनमें प्रथम ईश की सिद्धि में अनुमान है—"आत्मत्वं नित्यविशेषगुणवद्वृत्ति, आत्मजातित्वात्, सत्तावत्।

उक्त अनुमान के साध्य में मात्र 'वृत्तिमत्' कहने से अर्थान्तर होता, क्योंकि आत्मत्व जाति जीवात्मा में तो विद्यमान है ही। "गुणवद्वृत्तिमत्" कहने पर भी जीवात्मा के गुणवान् होने से तथा उसमें आत्मत्व की वृत्ति (विद्यमानता) सिद्ध होने से पुनः अर्थान्तर होता। इसप्रकार 'विशेषगुणवद्वृत्तित्व' कहने पर भी आत्मत्व के विशेषगुणवान् जीवात्मा में वृत्ति होने से, उक्त अर्थान्तर या सिद्ध साधनता होती। अतः साध्य में 'नित्य' पद का समावेश हुआ है। कारण जीवात्मा के सभी विशेषगुण अनित्य हैं। अतः जलीय परमाणु के समान नित्यविशेषगुणविशिष्ट एक ऐसा द्रव्य अवश्य स्वीकरणीय होता है, जिसमें आत्मत्व जाति विद्यमान हो। वही द्रव्य ईश्वर है।

जीवात्मा के परिमाणादि सामान्य गुण नित्य हैं। उस नित्य परिमाणगुणविशिष्ट जीवात्मा में आत्मत्व जाति का वृत्तित्व तो सिद्ध ही है। अतः उक्त अनुमान के साध्य में 'विशेष' पद सन्निविष्ट है। इसप्रकार 'नित्यवृत्ति' कहने पर भी नित्य द्रव्यों में विद्यमान 'विशेष' पदार्थ को लेकर अर्थान्तर होता। एवञ्च 'नित्यविशेषवद्वृत्ति' पद से भी नित्य जो विशेष पदार्थ, वह जीवात्मा में विद्यमान हैं। उस विशेष पदार्थ से युक्त जीवात्मा में आत्मत्व की वृत्ति सिद्ध है। अतः साध्य में 'गुण' पद का समावेश किया गया है।

हेतु में केवल 'जातित्वात्' पद से पृथिवीत्वादि जातिओं में व्यभिचार होता, कारण पृथिवीत्व 'नित्यविशेषगुणवद्वृत्ति' जाति नहीं है, क्योंकि पार्थिव परमाणु के सभी विशेष गुण पाकज होने से अनित्य हैं। अतः पृथिवीत्व का नित्यविशेष गुण वाले पदार्थ में न रहना स्पष्ट है। इसप्रकार उक्त साध्याभावविशिष्ट पृथिवीत्व जाति में हेतु के व्यभिचार के निराकरणार्थ हेतु में 'आत्म' पद इष्ट है। आत्मा तथा घटनिष्ठ द्वित्व संख्या या अन्यतरत्व आदि धर्मों में व्यभिचार के निरास के लिये हेतु में 'जातित्वात्' पद समाविष्ट है। कारण द्वित्वादि संख्या आत्मा में रहने के साथ-साथ अनित्यविशेष-गुणवान् घटादि में भी विद्यमान है। अतः 'जातित्वात्' पद से उक्त व्यभिचार का निरास हुआ।

कुछ लोग जीवात्मत्व को भी जाति मानते हैं। परन्तु जीवात्मत्व जाति नहीं, उपाधि है। अतः उसमें व्यभिचार की शंका नहीं है। आत्मत्व जाति दोनों आत्माओं (जीवात्मा तथा परमात्मा में) ही रहती है। टीकाकार का कहना है कि यदि जीवा-त्मत्व को जाति माना जाय तो उक्त ईश्वर-साधक अनुमान के हेतु के विशेषण के रूप में 'तद्भिन्नत्वे सति' पद देय है। तब हेतु का रूप होगा—'तद्भिन्नत्वे सति आत्मजाति-त्वात्' अर्थात् जीवात्मानिष्ठ जाति से भिन्न जाति जो आत्मत्व जाति, वही नित्यविशेष-गुणवान् ईश्वर में विद्यमान है।

ब० टी०—अधुना विशेषतस्साधयति—ईश्वरज्ञानमिति। जीवज्ञाने बाधवारणाय ईशेति। ईशसंयोगे बाधवारणाय ज्ञानमिति। अदृष्टे व्यभिचार-वारणाय अनन्तेति। न चादृष्टस्य सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तत्वात्तदवस्थो दोष इति वाच्यम्। एकैकादृष्टस्य सर्वकार्यहेतुत्वादिति, प्रत्येकावृत्तिश्च धर्मो न समुदायवृत्तिरिति न्यायात्। साधनवैकल्यपरिहाराय कार्येति। न हि कालोऽनन्तपदार्थपतितनित्यवर्गजनकः। यत्किञ्चित्कार्यजनके घटादौ व्यभिचारवारणाय अनन्तेति। कालवदिति। कालोद्रव्यं दृष्टान्तः न तु कालोपाधिः, एकैककालोपाधेः समस्तकार्याजनकत्वात्।

विमला—ईश्वर के ज्ञान में नित्यत्व का साधक प्रमाण है—"ईशज्ञानं नित्यम्, अनन्तकार्यहेतुत्वात् कालवत्।"

अनित्य जीव-ज्ञान में 'बाध' दोष के निराकरणार्थ उक्त अनुमान के पक्ष में 'ईश' पद है। एवञ्च ज्ञान के कार्य होने से, ईश-ज्ञान में अनित्यता की आपत्ति के निरास के लिये ही पक्ष में 'ईश' पद का समावेश हुआ है। यतः ईश-ज्ञान जन्य नहीं है, अतः नित्य है।

ईश्वर का 'संयोग' नामक सामान्यगुण तो अनित्य ही है। विभु द्रव्यों का सभी मूर्त्त द्रव्यों के साथ संयोग होता है, परन्तु वह संयोग अनित्य ही होता है। ईश्वर के संयोग (गुण) में बाध के निराकरणार्थ उक्त अनुमान के पक्ष में 'ज्ञान' पद है।

अदृष्ट भी कार्यों का हेतु है। परन्तु एक अदृष्ट सभी कार्यों का हेतु नहीं है, अतः उसमें व्यभिचार के निषेध के लिये 'अनन्त' पद हेतु में समाविष्ट है। यह कहना भी अनुचित होगा कि अदृष्ट के कार्य-मात्र के प्रति कारण होने से उसमें व्यभिचार होगा, कारण पृथक्-पृथक् अदृष्ट पृथक्-पृथक् कार्यों का निमित्त कारण है, कोई एक ही अदृष्ट सभी कार्यों का नहीं। इसी प्रकार यह कहना भी असंगत होगा कि अदृष्ट-समूह कार्य-मात्र के प्रति कारण हैं, क्योंकि जो चीज एक में नहीं पायी जाती, वह उनके समूह में भी नहीं पायी जाती। अतः इस नियम के अनुसार व्याप्ति नहीं बन पाती जैसे—'यत्र यत्र अदृष्टसमूहत्वं तत्र तत्र सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तत्वम्'। 'यत्र यत्र सर्वोत्पत्तिमन्निमित्त-त्वम् तत्र तत्र अदृष्टसमूहत्वम्' इस प्रकार की व्याप्ति भी नहीं बन पाती। मात्र 'अनन्त-हेतुत्वात्' कहने पर, काल द्रव्य जो नित्य पदार्थ होने से अतः अनन्त (शाश्वत) है परन्तु उसका कोई जनक नहीं है उसमें व्यभिचार के निरास के लिये हेतु में 'कार्य' पद समाविष्ट है। 'अनन्त' पद का अर्थ 'सब' है। घटादि भी जलाहरण आदि क्रिया के हेतु हैं ही। अतः घटादि में व्यभिचार के निषेध के लिये हेतु में 'अनन्त' पद सन्नि-विष्ट है।

काल द्रव्य ही उक्त अनुमान में दृष्टान्त है, न कि उसकी उपाधि, क्योंकि क्षण, दिन, पक्ष, मासादि एक-एक उपाधि सभी कार्यों का जनक नहीं हो सकती।

ब० टी०—विप्रतिपन्नमिति। अस्मदादिकर्तृकमित्यर्थः। नित्ये बाधवारणाय कार्यमिति। उद्देश्यसिद्धये ईश्वर इति। तथैव ज्ञानेति। सम्प्रतिपन्नवदिति। क्षित्यादिवदित्यर्थः। न च दृष्टान्तासिद्धिः, क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवदित्याद्यनुमानेनेश्वरज्ञानजन्यत्वस्य सिद्धिः। एवञ्चानन्तकार्यहेतुत्वादिति पूर्वोक्तो हेतुर्नासिद्धः। अन्ये तु विप्रतिपन्नं कार्यम् अङ्कुरादि विवक्षितज्ञानजं, स्वोपादानगोचराऽपरोक्षज्ञानं सम्प्रति-पन्नं कार्यं घटादीत्याहुः। तेषां मते घटादिकार्ये ईश्वरज्ञानजन्यत्वं मानान्तरेण सेत्स्यतीति निष्कर्षः।

विमला—ईश्वर के ज्ञान में अनन्त कार्यों के प्रति निमित्तकारणता की सिद्धि में प्रमाण है—"विप्रतिपन्नं सर्वं कार्यं विवक्षितज्ञानजम्, कार्यत्वात् सम्प्रतिपन्नवत् ।"

उक्त अनुमान में 'विप्रतिपन्न' पद का अर्थ अस्मदादिज्ञानजन्य कार्य है, कारण अज्ञात कार्यों में सन्देह का अवकाश ही कहाँ ? लोकव्यवहार में यही देखा जाता है कि अनिश्चयात्मक ज्ञान में ही सन्देह होता है।

नित्य पदार्थ में बाध के निषेध के लिये उक्त अनुमान के पक्ष में 'कार्य' पद है। उद्देश्य की सिद्धि के लिये ही साध्य में 'ईश्वर' तथा 'ज्ञान' इन दोनों पदों का समावेश हुआ है। (सम्भवतः टीकाकार के समय 'ईश्वरज्ञानजम्' यही पाठ मूल में रहा होगा।) 'सम्प्रतिपन्न' पद का अर्थ क्षित्यङ्कुरादिकार्य हैं। अर्थात् जिसप्रकार क्षिति (=पार्थिव स्थूल द्रव्य अङ्कुरादि) में ईश्वर-ज्ञान का कारणत्व सिद्ध है, उसी प्रकार हमारे ज्ञान-जन्य घट-पटादि में भी ईश्वर-ज्ञान-जन्यत्व सिद्ध है।

इस अनुमान में दृष्टान्त की असिद्धि-रूप दोष भी नहीं है। "क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत् = क्षिति आदि कर्तृजन्य हैं, कार्य होने से, घट के समान"—इस अनुमान के द्वारा एक कार्य में ईश्वर-ज्ञान-जन्यत्व की सिद्धि होने पर सभी कार्यों में इसी अनुमान से ईश्वर-ज्ञान-जन्यत्व की सिद्धि होती है।

इस प्रकार अनन्त कार्यों के प्रति ईश-ज्ञान के हेतु होने से ग्रन्थकार का उक्त हेतु (ईशज्ञानं नित्यम् अनन्तकार्यहेतुत्वात्, कालवत् = इस अनुमान में प्रयुक्त 'अनन्तकार्य-हेतुत्व' रूप हेतु) असिद्ध नहीं है।

कुछ अन्य टीकाकारों[1] के अनुसार प्रमाणमञ्जरी के उक्त सभी कार्यों के प्रति ईश्वर-ज्ञान-कारणत्वसाधक अनुमान के पक्षभूत 'विप्रतिपन्न' पद का अर्थ क्षित्यङ्कुरादि है। साध्य में प्रयुक्त 'विवक्षित' पद का अर्थ है उन अङ्कुरादि के उपादान (समवायिकारण) परमाणुओं के प्रत्यक्षात्मकज्ञान, उसी ईश-ज्ञान से सभी क्षित्यङ्कुरादिजन्य हैं। 'सम्प्रतिपन्न' पद का अर्थ है घटादि। अर्थात् जिस प्रकार कुलाल घट के उपादान कारण मृत्तिका के ज्ञान के विना घट का निर्माण नहीं कर सकता, इसी प्रकार इस वैचित्र्यपूर्ण संसार की सृष्टि भी इसके उपादान तत्त्वों (परमाणु आदि) के प्रत्यक्ष ज्ञान के विना नहीं हो सकती है। पृथिवी का कोई भी व्यक्ति इन सम्पूर्ण कार्यों के निर्माण में समर्थ नहीं है। अतः अवश्य ही इस संसार के कर्त्ता के रूप में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, चैतन्यगुणविशिष्ट पुरुष स्वीकरणीय है, वही ईश्वर, भगवान् इत्यादि शब्दों का वाच्य हैं।

उपर्युक्त मत के अनुसार घटादि कार्यों में ईश्वर-ज्ञान-जन्यत्व की सिद्धि प्रमाणान्तर से होगी।

---

१. प्रकृत में आचार्य बलभद्र मिश्र ने प्रमाणमञ्जरी के अन्य टीकाकार अद्वयारण्य योगी के मत का उल्लेख किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रमाणमञ्जरीकार ने न्याय-वैशेषिक-सिद्धान्त के अनुसार नित्यज्ञान के आश्रय के रूप में आत्मत्व-जातिविशिष्ट परमात्मा—ईश्वर की सिद्धि की है। एवञ्च अनन्त कार्यों के हेतु (कारण) के रूप में ईश-ज्ञान की नित्यता सिद्ध होती है तथा इस सम्पूर्ण जगत् व सम्पूर्ण अनित्य पदार्थ के उस ईश-ज्ञान से ही जन्य होने से, ईश-ज्ञान में अनन्त-कार्यहेतुत्व सिद्ध है—यही प्रमाणमञ्जरीकार का आशय है।

ईश्वरज्ञानादेस्सर्वाश्रयव्यापित्वे प्रमाणम्

तज्ज्ञानमाश्रयव्यापि, नित्यगुणत्वात् परमाणुरूपवदिति तज्ज्ञानस्याश्रयव्यापित्वं सिद्धम्। अतएव तदिच्छाप्रयत्नावाश्रयव्यापिनौ। उत्तरत्र प्रमाणम्—भोगः क्वचिदाश्रितः, गुणत्वात्, रूपवदिति। न कार्याणि तद्वन्ति, कार्यत्वाद् घटवदिति। न श्रोत्रादि तद्वत्, कारणत्वाद् दण्डवत्। भोगो गुणः, अनित्यत्वे सत्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वाद् गन्धवदिति हेतुसिद्धिः।

भाषाटीका—आशङ्का हो सकती है कि जिस प्रकार प्रदीप की प्रभा स्वल्प प्रदेश को ही आलोकित करती है उसी प्रकार ईश्वर का ज्ञान यदि नित्य होते हुये परिच्छिन्न (स्वल्पस्थल में विद्यमान) हो तो उससे अनन्त कार्यों के उपादानों का ग्रहण नहीं हो पायेगा, एवञ्च कार्यमात्र के उपादान के ज्ञान के विना ईश्वर-ज्ञान अनन्त कार्यों का कारण नहीं हो पायेगा। इसी शंका के समाधान में प्रमाणमञ्जरीकार ने ईश्वर के ज्ञान को आश्रय-व्यापी कहा है—

"वह ज्ञान आश्रय-व्यापी[1] है, नित्यगुण होने से, परमाणु के रूप के समान। चूंकि ईश्वर सर्वव्यापक हैं अतः उनका ज्ञान भी सर्वाश्रयव्यापी होने से सर्वव्यापक होगा। इस प्रकार ईश्वर का सर्वज्ञत्व सिद्ध है। जिस प्रकार जलीय परमाणु या तैजस परमाणु का रूप नित्य होने से अपने आश्रय परमाणु को सम्पूर्ण रूप से व्याप्त किये रहता है उसी प्रकार ईश-ज्ञान भी नित्यगुण होने से अपने आश्रय ईश्वर (परमात्मा) को व्याप्त किये रहता है। यही उक्त अनुमान का आशय है। इस प्रकार ईश-ज्ञान का आश्रयव्यापित्व सिद्ध है।

---

१. अपने आश्रय को पूर्ण रूप से व्याप्त कर रहने वाले पदार्थ को व्याप्यवृत्ति कहते हैं तथा आश्रय के एक अंश में रहने वाले को अव्याप्यवृत्ति कहते हैं। ईश्वर का ज्ञान अपने आश्रय को पूर्ण रूप से व्याप्त किये हुये रहता है। इसी ईश-ज्ञान के व्याप्य-वृत्तित्व को प्रमाणमञ्जरीकार ने उक्त अनुमान के द्वारा सिद्ध किया है।

ईश्वर के ज्ञान के नित्य तथा स्वाश्रय (ईश्वर) में पूर्ण रूप से व्याप्त होने से ईश्वर की इच्छा तथा प्रयत्न गुण भी आश्रयव्यापी अर्थात् व्याप्यवृत्तित्वसम्पन्न तथा नित्य हैं।

आत्मा के दो भेद किये गये थे—(१) ईश (परमात्मा) तथा (२) अनीश (जीवात्मा) के भेद से। उनमें से द्वितीय जो अनीश (जीवात्मा) है, उसकी सिद्धि में ग्रन्थकार का अनुमान प्रमाण इस प्रकार है—

"भोग किसी द्रव्य में आश्रित हैं, गुण होने से रूप के समान। कार्य भोग के आश्रय नहीं हैं, कार्य होने से, घट के समान। श्रोत्र आदि भी भोग के आश्रय नहीं हैं, कारण होने से दण्ड के समान।"

शङ्का हो सकती है कि भोग गुण है यही जब सिद्ध नहीं है, तब जीवात्मा की सिद्धि के लिये दिये गये उपर्युक्त अनुमान का 'गुणत्व' रूप हेतु असिद्ध है। इस हेतु की असिद्धि के परिहार के लिये ग्रन्थकार भोग में गुणत्व की सिद्धि करते हैं—"भोग गुण है, अनित्य होते हुये चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय न होने से, गन्ध के समान। जिस-प्रकार गन्ध पृथिवी का पाकज गुण होने से अनित्य होने के साथ-साथ चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय न होते हुये गुण है, उसी प्रकार भोग भी जीवात्मा के गुण होने से अनित्य होने के साथ-साथ प्रत्यक्ष का विषय न होते हुए गुण है। इसप्रकार भोग में गुणत्व की सिद्धि होने से उपर्युक्त जीवात्मा के साधक अनुमान के हेतु (गुणत्व रूप हेतु) में असिद्धि दोष नहीं रहा।

ब० टी०—तज्ज्ञानमिति ईश्वरज्ञानमित्यर्थः। आश्रयनिष्ठत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाधनमतो व्यापीति। समवायसम्बन्धेन घटाद्यव्यापित्वाद् बाधवारणाय आश्रयेति। सर्वस्मिन् काले स्वसमवायीत्यर्थः, एतावता व्यापकस्य व्यापकत्वं सकलकार्योपादानावगाहकत्वमिति दूषणमपास्तम्। नित्येति। नित्यश्चासौ गुणश्चेति कर्मधारयः, संयोगादौ व्यभिचारवारणाय नित्येति, आकाशादौ व्यभिचारवारणाय गुणत्वादिति, विशेषपदं नास्त्येवेति न व्यर्थता। अन्ये तु जीवाकाशेतरनित्यनिष्ठमाकाशप्रयोज्यविशेषगुणत्वादिति हेतुं वर्णयन्ति, पृथिवीपरमाणुरूपं न दृष्टान्तः, सर्वकाले स्वाश्रयव्यापकत्वमिहोद्देश्यमिति कृत्वा तादृशसाध्यमुक्तम्। केचित्तु स्वाश्रयव्यापकत्वमात्रमत्र साध्यमित्याहुः। अत एव नित्यगुणत्वादेव।

विमला—प्रमाणमञ्जरीकार ने ईश्वर के ज्ञान में सर्वाश्रयत्व की सिद्धि में यह अनुमान प्रस्तुत किया है—"तज्ज्ञानमाश्रयव्यापि, नित्यगुणत्वात् परमाणुवत्।"

उक्त अनुमान के पक्ष में प्रयुक्त 'तज्ज्ञानम्' पद का अर्थ ईश्वर-ज्ञान है। उक्त अनुमान के साध्य में 'आश्रयनिष्ठत्व' या 'आश्रयवृत्तित्व' कहने पर सिद्धसाधनता होती,

कारण ईश्वर-ज्ञान तो ईश्वर में आश्रित है ही, अतः 'व्यापी' पद का समावेश हुआ। अर्थात् व्याप्यवृत्तित्व—आश्रय के सभी स्थानों में व्याप्त है। मात्र 'व्यापी' कहने पर ईश-ज्ञान के द्वारा घटादि के समवाय सम्बन्ध से व्याप्त न होने से बाध होता। अतः इस बाध के निराकरणार्थ साध्य में 'आश्रय' पद समाविष्ट है। इसका अर्थ है सभी काल में अपने समवायी को (ईश्वर को) ईश्वर-ज्ञान व्याप्त किये हुये है। प्रकृत में किसी सम्बन्ध-विशेष का उल्लेख न होने से ईश्वर तथा उसके ज्ञान के बीच सहज सम्बन्ध ही ग्रहणीय है। इस प्रकार ईश-ज्ञान का व्यापकत्व सिद्ध होता है। अतः ईश्वर-ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण कार्यों के ग्रहण में जो अनुपपत्ति दिखाई गई थी, उसका निराकरण हो जाता है।

हेतु में 'नित्य' शब्द 'गुण' पद का विशेषण है। 'नित्यश्चासौ गुणश्चेति' इस प्रकार कर्मधारय समास से ईश्वर-ज्ञान में नित्य गुणत्व का ही बोध होता है।

संयोगादि में व्यभिचार के निरास के लिये हेतु में 'नित्य' पद है। नित्य आकाशादि में व्यभिचार के परिहार के लिये 'गुणत्व' पद हेतु में सन्निविष्ट है।

हेतु में विशेष पद नहीं है, अर्थात् उक्त अनुमान के हेतु में 'नित्य' पद के बाद 'विशेषगुणत्वात्' इस प्रकार का वाक्य रखने पर व्यर्थ-विशेषणता होती, क्योंकि हेतु में 'विशेष' पद की कोई आवश्यकता नहीं हैं, कारण आकाश तथा जीवात्मा के नित्य होने पर भी इनके विशेषगुण नित्य नहीं है, तथा आश्रयव्यापी भी नहीं हैं। अतः इनमें व्यभिचार की आशङ्का नहीं है। कुछ लोग उक्त हेतु का जोव तथा आकाश से भिन्न नित्य-द्रव्यनिष्ठ (ईश्वर-निष्ठ) नित्य-विशेषगुणत्व-रूप अर्थ करते हैं।

पार्थिव परमाणु के रूप को दृष्टान्त के रूप में नहीं रखा गया है, क्योंकि पाकज होने के कारण पार्थिवपरमाणु का रूप परिवर्तनशील है। अतः वह सर्वदा अपने आश्रय को व्याप्त किये हुये नहीं रह सकता। यद्यपि ईश-ज्ञान की नित्यता पूर्वोक्त अनुमान के द्वारा सिद्ध हो चुकी है तथापि सभी काल में अपने आश्रय में ईश-ज्ञान के व्याप्यवृत्तित्व को सिद्ध करने के लिए ही प्रकृत अनुमान के साध्य में 'आश्रयव्यापित्व' पद है, कारण नित्य होने से ही उसका आश्रयव्याप्यत्व सिद्ध नहीं होता। जैसे मन नित्य होते हुये भी अणु होने से अपने आश्रय के एक देश में ही वर्तमान रहता है सम्पूर्ण देश में नहीं। अतः उपर्युक्त अनुमान की प्रयोजनता सिद्ध है।

कुछ लोग 'स्वाश्रयव्यापकत्व' भाग को ही साध्य कहते हैं। अतः उनके कथनानुसार नित्य गुण के ही स्वाश्रयव्याप्यत्व संभव होने से हेतु में 'नित्यगुणत्वात्' पद है।

अतः ईश्वर का ज्ञान ईश्वर में पूर्ण रूप से व्याप्त है—यही सिद्ध होता है।

इच्छा :—

ईश्वर का एक विशेषगुण इच्छा है। ईश्वर की इच्छा भी नित्य है तथा अपने आश्रय को व्याप्त किये हुये रहती है।

कृति :—

ईश्वर की कृति भी नित्य है तथा अपने आश्रय को व्याप्त की हुई है। कृति को ही दूसरे शब्द में प्रयत्न कहा गया है।

प्रमाणमञ्जरीकार ईश्वर की इच्छा तथा प्रयत्न में सर्वाश्रयव्यापित्व की सिद्धि में हेतु देते हैं 'नित्यगुणत्वात्'। अर्थात् ईश्वर की इच्छा तथा प्रयत्न भी नित्य गुण होने से आश्रयव्यापी है, जलपरमाणु के रूप के समान।

ब० टी०—उत्तरत्र अनीशात्मनि। कार्याणि शरीरतदवयवाः अन्यत्र विवादाभावात्। कारणोद्भूतत्वादित्यर्थः, तेन स्वमते नात्मनि व्यभिचारः। मनो न तद्वत्, इन्द्रियत्वात् चक्षुर्वदित्युपरि बोध्यम्। पूर्वहेतोरसिद्धि वारयितुं भोगस्य गुणत्वं साधयति—भोग इति। रसत्वादौ व्यभिचारं वारयितुं सत्यन्तम्। घटादौ व्यभिचारभङ्गाय प्रत्यक्षत्वे सतीति देयम्।

विमला—प्रमाणमञ्जरीकार जीवात्मा की सिद्धि इस अनुमानप्रमाण से करते हैं—"भोगः क्वचिदाश्रितः 'गुणत्वात् रूपवत्"। भोग का अर्थ है—'स्वसमवेत सुखदुःख-साक्षात्कार'। स्व अर्थात् आत्मा में समवेत सुख तथा दुःख में से किसी एक का साक्षात्कार। साक्षात्कार के ज्ञान-रूप होने से सुख-दुःख का साक्षात्कार (ज्ञान) भी एक गुण है। अतः भोगरूप गुण किसी द्रव्य में अवश्य आश्रित है, गुण होने से रूप के समान। अब इसे इस प्रकार समझा जा सकता है—

भोग (ज्ञान-सुख-दुःख-साक्षात्कार-रूप ज्ञान) पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन भूतों के गुण नहीं हो सकता, क्योंकि भोग का मानसप्रत्यक्ष होता है और यह नियम है कि जो भूतों के गुण होते हैं उनका मानसप्रत्यक्ष नहीं होता, जैसे रूपादि गुण का।

भोग, दिक्, काल और मन इन द्रव्यों का भी गुण नहीं हो सकता, क्योंकि भोग विशेषगुण है और नियम यही है कि जो दिक्, काल और मन इन तीनों में से किसी का गुण होता है, वह विशेषगुण नहीं होता, जैसे संख्या, परिमाण आदि दिक्, काल और मन के गुण होने से विशेष गुण न होकर समस्त द्रव्यों के साधारण गुण हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों अनुमानों से यह सिद्ध होता है कि भोग पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में से किसी का भी गुण नहीं है। अतः निःकृष्ट अनुमान इस प्रकार होगा—

भोग पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित है, क्योंकि वह पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुये भी गुण रूप है। यह नियम है कि जो जिसमें आश्रित न होते हुये भी गुण-रूप होता है वह उससे अतिरिक्त में आश्रित होता है, जैसे पृथिवी आदि द्रव्यों में आश्रित न होते हुए गुणरूप होने के कारण शब्द पृथिवी आदि

से अतिरिक्त आकाश-नामक नवें द्रव्य में आश्रित होता है। भोग पृथिवी आदि आठ द्रव्यों में आश्रित न होते हुये भी गुणरूप है। अतः उसका पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में आश्रित होना अनिवार्य है।

इस प्रकार उक्त अनुमान से भोगरूप गुण के आश्रय के रूप में पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न जिस द्रव्य की सिद्धि होती है वही आत्मा-नामक नवम द्रव्य है।

अतः स्पष्ट है कि 'उत्तरत्र' अर्थात् परमात्मा से भिन्न आत्मा का द्वितीय भेद जीवात्मा की सिद्धि में प्रमाणमञ्जरीकार का उपर्युक्त अनुमान निर्दिष्ट है।

आगे ग्रन्थकार कहते हैं कि 'न कार्याणि तद्वन्ति कार्यत्वाद्घटवदिति। न श्रोत्रादि तद्वत् कारणत्वाद् दण्डवत्'। प्रकृत में 'कार्याणि' पद का अर्थ शरीर तथा उसके अवयव हैं, कारण भोग का अर्थ सुख-दुःख का साक्षात्कार कहा गया है। साक्षात्कार ज्ञान-रूप है।

ज्ञान आत्मा में ही रहता है, शरीर आदि में नहीं। शरीर तथा उसके अवयवों के अतिरिक्त घट-पटादि में तो भोग के आश्रयत्व में कोई विवाद का प्रश्न ही नहीं। श्रोत्र भी भोग से युक्त नहीं है, क्योंकि श्रोत्र आदि भोग के साधन हैं। मन भी भोग से युक्त नहीं है इन्द्रिय होने से चक्षु के समान। अतः भोग समवायसम्बन्ध से केवल आत्मा में रहता है और कहीं नहीं।

शङ्का हो सकती है कि भोग गुण है यही जब सिद्ध नहीं है, तब 'गुणत्व' स्वरूप असिद्ध हेतु से भोग की किसी द्रव्य में आश्रयता की सिद्धि; तथा भोग के उस आश्रयोभूत द्रव्य के रूप में जीवात्मा की सिद्धि अति-उपहासास्पद है। इसी शङ्का के समाधान में प्रमाणमञ्जरीकार ने पूर्व हेतु की असिद्धि के निराकरण के लिए निम्न-लिखित अनुमान प्रमाण का उपनिबन्ध किया है—'भोगो गुणः अनित्यत्वे सति अचाक्षुष-प्रत्यक्षत्वाद् गन्धवत्'।

रसत्वादि में व्यभिचार के निरास के लिए हेतु में 'अनित्यत्वे सति' यह सत्यन्त पद है, क्योंकि नित्यजातिरूप रसत्व भी रसनाग्राह्य होने से अचाक्षुष तो है, परन्तु गुण नहीं है। अतः हेतु में 'अनित्य' पद का समावेश हुआ है। घटादि अनित्य तो हैं परन्तु गुण नहीं है, अतः उनमें व्यभिचार के निरास के लिए 'अचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्' यह पद हेतु में सन्निविष्ट है।

बलभद्र मिश्र के अनुसार गुणभिन्न अतीन्द्रिय इन्द्रियाँ भी हैं। एवञ्च श्रोत्र के अतिरिक्त सभी इन्द्रियाँ अनित्य भी हैं। अतः उनमें व्यभिचार के निरास के लिए हेतु में 'प्रत्यक्षत्वे सति' यह पद भी देय है, कारण गन्ध, रसादि चक्षुभिन्न अन्य इन्द्रियों से तो ग्राह्य हैं परन्तु इन्द्रियाँ किसी भी इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं है। अतः उक्त व्यभिचार के निरासार्थ हेतु में 'प्रत्यक्षत्वे सति' पद समावेशनीय है।

जीवैकत्वनिरासः, जीवस्य सर्वगतत्वञ्च

अस्मदाद्यात्मा द्रव्यत्वावान्तरजातिमान्, चतुर्दशगुणवत्त्वात् उदकवत्। आत्मशब्दोऽनेकवाचकः, आत्मवाचकत्वात् तच्छब्दवदिति नानात्वं सिद्धम्। मच्छरीरेतरमूर्त्तानि मदात्मयुञ्जि मूर्त्तत्वान्मच्छरीर-वदिति सर्वगतत्वं तस्य। ईशोऽपि सर्वगतः, आत्मत्वाद्देहिवत्। स नित्यः सर्वगतत्वात्। स बुद्धयादिचतुर्दशगुणवान्।

भाषाटीका :—

न्याय-वैशेषिकों ने बुद्धि तथा भोगादि के आश्रयस्वरूप अष्टम द्रव्य के रूप में आत्मा (जीवात्मा) को स्वीकार किया है।' अहम्' इस प्रतीति का विषय आत्मा ही है। दूसरे के शरीर में प्रवृत्त्यादि को देखकर 'परात्मा' का अनुमान होता है। इस प्रकार प्रमाणों के द्वारा ज्ञान के आधार के रूप में कर्तृत्व-भोक्तृत्व से विशिष्ट न्यायवैशेषिक-सम्मत विभु जीवात्मा सिद्ध है। कृति-प्रयत्न से युक्त होने से आत्मा कर्तृत्वसम्पन्न है। एवञ्च धर्माधर्म से युक्त होने से ही भोक्ता भी है।

परमात्मा के समान जीव के भी एक होने पर सुखदुःखादि की व्यवस्था की उपपत्ति नहीं हो पाती। अतः वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तानुसार जीव की अनेकता की सिद्धि के लिए प्रमाणमञ्जरीकार निम्नलिखित अनुमान-प्रमाण की उपस्थापना करते हैं।—

हमारी आत्मा चतुर्दश गुणों से युक्त होने के कारण, जल के समान द्रव्यत्वावान्तर[1] जाति से युक्त है, जिस प्रकार जल या पृथिवी द्रव्य चतुर्दश गुणों से युक्त होने के कारण द्रव्यत्वावान्तर जाति-क्रमशः जलत्व या पृथिवीत्व से युक्त है उसी प्रकार आत्मा भी चतुर्दश गुणयुक्त (बुद्धि से संस्कार पर्यन्त नौ विशेष गुण तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग एवं विभाग ये कुल मिलाकर चौदह गुण होते हैं। इन चतुर्दश गुणों से युक्त) होने से द्रव्यत्वावान्तर जाति से युक्त है। वह आत्मा में रहने वाली द्रव्यत्वावान्तर-जाति आत्मत्व ही है जाति एक में नहीं, अनेक में रहती है। अतः आत्मत्व जाति से युक्त आत्मा की अनेकता सिद्ध है।

प्रमाणमञ्जरीकार ने साक्षात् रूप से जीवात्मा की अनेकता की सिद्धि के लिए द्वितीय अनुमान का उपनिबन्ध किया है :—आत्मा शब्द आत्मा द्रव्य के वाचक होने से तत् शब्द के समान अनेकार्थ-वाचक है। एतद्, इदम् आदि सर्वनाम शब्द अनेकार्थ-वाचक है। अतः जिस प्रकार तत् शब्द अनेकार्थक है, उसी प्रकार आत्मा शब्द भी आत्मा का वाचक होने से अनेकार्थक है। इस प्रकार जीवात्मा की अनेकता की सिद्धि हुई।

---

१. द्रव्यत्वावान्तरजाति का अर्थ है—द्रव्यत्व-जाति से व्याप्य, जैसे पृथिवीत्व आदि।

न्यायवैशेषिक-सम्मत जीवात्मा विभु तथा नित्य है। अतः प्रमाणमञ्जरीकार जीवात्मा की विभुता में निम्नलिखित अनुमान की उपस्थापना करते हैं।—

मेरे शरीर से भिन्न जितने भी मूर्त्त पदार्थ हैं, वे सब मूर्त्त होने से मेरी आत्मा से संयुक्त हैं, मेरे शरीर के समान। अर्थात् जिस प्रकार मेरा शरीर मूर्त्त होने से मेरी आत्मा के साथ संयुक्त हैं उसी प्रकार मेरे शरीर से भिन्न सभी मूर्त्त द्रव्य भी मूर्त्त होने से मेरी आत्मा के साथ संयुक्त हैं। घट-पटादि पार्थिव द्रव्य, जल, तेज, वायु तथा मन—ये पाँच ही मूर्त्त द्रव्य हैं। अतः इन मूर्त्त द्रव्यों के साथ आत्मा का संयोग होना ही आत्मा की व्यापकता (विभुता) है। इस प्रकार आत्मा की व्यापकता सिद्ध है।

प्रमाणमञ्जरीकार ने जीवात्मा के विभुत्व तथा नित्यत्व के वर्णन के प्रसंग में ईश्वर के भी विभुत्व तथा नित्यत्व को सिद्ध करते हुए कहा है—ईश्वर भी जीवात्मा के समान आत्मा होने से सर्वव्यापक है।

टीकाकार के अनुसार ईश्वर के परिच्छिन्न (स्वल्पपरिमाणविशिष्ट) होने पर ईश्वर की सम्पूर्ण कार्यों के प्रति निमित्तकारणता की अनुपपत्ति होगी। इसीलिए प्रमाण-मञ्जरीकार ने उपर्युक्त अनुमान के द्वारा ईश्वर के विभुत्व की (परममहत्परिमाणवत्त्व) की सिद्धि की है। इसी प्रकार 'स नित्यः सर्वगतत्वात् कालवत्' अर्थात् ईश्वर नित्य है, विभु होने से, काल के समान—इस अनुमान के द्वारा परमात्मा तथा जीवात्मा दोनों में नित्यता की सिद्धि होती है।

प्रमाणमञ्जरीकार के इस अनुमान से जीवात्मा की नित्यता प्रतिपादित है :— जीवात्मा नित्य है, विभु होने से काल के समान। इस प्रकार जीव की नित्यता सिद्ध है, जीव के अनित्य होने पर कृतहानि तथा अकृताभ्यागम की आपत्ति होगी, अर्थात् जिस जीवात्मा के द्वारा कर्म सम्पन्न होंगे, उसका नाश होने पर भोक्ता के अभाव में उसके द्वारा सम्पादित कर्मों के फल भी विनष्ट हो जायेंगे, उसी प्रकार जीव को विना किये हुए ही जन्म-काल में कर्म-फल भोगने पड़ेंगे। अतः जीव को नित्य मानना अनिवार्य है।

जीवात्मा के गुणों का वर्णन करते हुए प्रमाणमञ्जरीकार ने कहा है—'सः' अर्थात् जीव बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये नौ विशेष गुण तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग—ये पाँच सामान्य गुण इस प्रकार कुल चौदह गुणों से युक्त हैं।

ईश्वर में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न—ये आठ गुण हैं।

ब० टी०—जीवैकत्ववादिनं प्रत्याह—अस्मदादीति। ईश्वरे भागा-सिद्धिं वारयितुम् अस्मदादीति। तावता जीवः पक्षः। द्रव्यत्वादिनार्थान्तर-

वारणाय द्रव्यत्वावान्तरेति । ज्ञानवत्त्वेनार्थान्तरभङ्गाय जातीति । आकाशे व्यभिचारभङ्गाय चतुर्दशेति । चतुर्दशगुणविभाजकोपाध्याधाराधारत्वादित्यर्थः । तेन चतुर्दशसंयोगवत्याकाशे न व्यभिचारः । चतुर्दशत्वं च दशत्वाघटितसंख्या, तेन न चतुर्भागवैयर्थ्यम् । यद्यपि य एव चतुर्दशगुणा आत्मनि त एव न पयसीति शब्दसाम्येऽपि न पक्षदृष्टान्तयोरेकहेतुता, तथापि चतुर्दशशब्दवाच्यत्वानुगतीकृतगुणविभाजकोपाध्याधारत्वं हेतुः । यद्यपि संस्कारशून्यस्य पयसो न दृष्टान्तता चतुर्दशगुणवत्त्वाभावात्, तथापि हेतुमत्य आपो दृष्टान्तः । केचित्त्वारम्भकतापन्ने जले वेगनियमात् तदारम्भकेऽपि वेगनियम इत्याहुः ।

विमला—प्रमाणमञ्जरीकार का जीवात्मा में अनेकत्व-साधक प्रमाण है :—
"अस्मदाद्यात्मा द्रव्यत्वावान्तरजातिमान्, चतुर्दशगुणवत्त्वात्, उदकवत् ।"

ईश्वर में चतुर्दश गुण नहीं हैं, आठ ही गुण हैं, अतः ईश्वर में भागासिद्धिरूप दोष के निषेध के लिए उक्त अनुमान के पक्ष में 'अस्मदादि' पद है। मात्र 'आत्मा' को पक्ष में रखने पर सिद्धसाधनता होती, क्योंकि ईशात्मा में आत्मत्व जाति की सिद्धि तो पहले ही हो चुकी है अतः "अस्मदादि आत्मा" इतने पदों को पक्ष में रखा गया है। 'अस्मदादि' पद से जीवात्मा सूचित होता है।

साध्य में केवल 'जाति' पद के रखने पर सत्ता, द्रव्यत्वादि जाति को लेकर अर्थान्तर होता। अतः साध्य में 'द्रव्यत्वावान्तरजातित्व' पद सन्निविष्ट है। 'जाति' पद के अभाव में ज्ञानत्व आदि द्रव्यत्वावान्तर धर्मों में अर्थान्तर होता, अतः साध्य में 'जाति' पद का समावेश हुआ है।

'गुणवत्त्व' तो आकाश में भी है। परन्तु आकाश के एक होने से आकाश में कोई द्रव्यत्वावान्तरजाति नहीं है। अतः साध्याभाव से युक्त आकाश में व्यभिचार के निरास के लिए ही 'चतुर्दश' पद हेतु में समाविष्ट है। आकाश में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग तथा शब्द—ये छः गुण हैं। अतः हेतु में 'चतुर्दश' पद का समावेश होने पर आकाश में व्यभिचार नहीं होता।

'चतुर्दश' पद का अर्थ है—चतुर्दशगुणविभाजक जो उपाधियाँ—बुद्धित्व, सुखत्व, दुःखत्व आदि (यद्यपि सुखत्व, दुःखत्व आदि उपाधि नहीं जातियाँ हैं, फिर भी प्रकृत में औपचारिक रूप से इन्हें उपाधि कह दिया गया है) उनके आधारभूत बुद्धि, सुख, दुःख आदि का जो आधार हैं, वही जीवात्मा है। 'चतुर्दशगुणविभाजक उपाधि' रूप अर्थ करने पर आकाश के जो चतुर्दश संयोग-कलम-आकाश-संयोग, घट-आकाश-संयोग आदि उनसे युक्त आकाश में व्यभिचार नहीं होगा। 'सजातीय' या 'विजातीय'

पदों का चतुर्दश गुणों के साथ उल्लेख न करने पर चतुर्दश-संयोगयुक्त आकाश में व्यभिचार होगा। यद्यपि जो ही चतुर्दश गुण आत्मा में हैं, वे ही गुण जल में नहीं हैं अतः पक्ष तथा दृष्टान्त में धूम के समान एकहेतुता नहीं है, तथापि चतुर्दशशब्दवाच्यत्व जिनमें हो, ऐसे चतुर्दशगुणविभाजकोपाधि से युक्त गुणों का आधार होना ही उक्त हेतु का तात्पर्य है।

यद्यपि सरोवरादि के स्थिर जल में संस्कार (वेग) के न रहने से उस जल में उक्त दृष्टान्तता नहीं है, उसमें वेग के अभाव से तेरह ही गुणे होने के कारण, तथापि जिस जल में संस्कार (वेग) है, (गंगा आदि नदी में) वह जल दृष्टान्त हैं।

कुछ लोगों के अनुसार जल-परमाणु में 'वेग' नामक संस्कार रहने के कारण उससे आरब्ध स्थूल जल में भी, चाहे अव्यक्त रूप से ही हो, वेग अवश्य रहेगा।

इस प्रकार आत्मत्व जाति के आधार पर जीवात्मा को अनेकता की सिद्धि की गई है।

ब० टी०—घटाकाशादिशब्दे बाधसिद्धसाधनवारणाय आत्मेति। एकमात्रवाचकत्वेनार्थान्तिरवारणाय अनेकेति। लक्षणया शरीराद्यनेक-प्रतिपादकत्वेऽपि न तत्रात्मशब्दस्य शक्तिः। एवमाकाशशब्दस्य शक्तिर्भूताकाश एव। चिदाकाशादौ लक्षणया प्रयोगः। यद्वा एकप्रवृत्तिनिमित्तपुरस्कारेणा-नेकधावाचकत्वं साध्यम्। आकाशादिशब्दे व्यभिचारवारणाय आत्मेति। लक्षणयात्मप्रतिपादके गगनशब्दे व्यभिचारवारणाय वाचकत्वादिति। न चात्मवाचके एतदादिशब्दे व्यभिचारः, तस्याप्यनेकवाचकत्वात्। बुद्धि-स्थत्वस्य प्रयोगापाधित्वादेकमात्रप्रयोगः। न चैतदात्मत्वपुरस्कारेणैदतात्म-शब्दे हेतुर्व्यभिचारीति वाच्यम्। एतस्य वाक्यत्वेनावाचकत्वात्। देव-दत्तादिशब्दः शरीरवाचको नात्मवाचक इति न व्यभिचारः। पूर्वानुमाने तात्पर्याद्वा।

विमला—ग्रन्थकार का जीवात्मा की अनेकता का साधक द्वितीय अनुमान इस प्रकार है—

"आत्मशब्दोऽनेकवाचकः, आत्मवाचकत्वात्, तच्छब्दवत्।"

घट शब्द तो अनेकार्थ-वाचक है ही, अतः उक्त अनुमान के पक्ष में 'आत्म' पद का समावेश न करने पर घटादि में सिद्ध-साधनता होती, साथ ही घट शब्द के आत्म-वाचक न होने से पक्ष में हेतु की असिद्धि-रूप स्वरूपासिद्धि हेत्वाभास होता। अतः इन दोषों के निराकरणार्थं पक्ष में 'आत्म' शब्द सन्निविष्ट है। प्रकृतमें 'आत्म' शब्द का अर्थ

जीव है, अन्यथा 'आत्म' शब्द का साधारण अर्थ करने पर आत्मा शब्द में ईश्वरवाचकत्व सिद्ध होने से (अर्थात् आत्मा शब्द ईश्वर का भी वाचक है—यह पहले से ही सिद्ध होने से) पुनः उक्त अनुमान के द्वारा सिद्ध करने पर सिद्धसाधन दोष होगा। आकाश शब्द भी एक आकाश-रूप द्रव्य का वाचक है, परन्तु आकाश शब्द अनेकार्थक नहीं है। अतः आकाश शब्द में (पक्ष में साध्य का अभाव रूप) बाध दोष के निरासार्थ पक्ष में 'आत्म' पद का समावेश हुआ है।

आत्मा का एकत्व सिद्ध होने पर अर्थान्तरता होगी, क्योंकि न्यायवैशेषिक-सिद्धान्तानुसार आत्म-विषयक अनेकत्ववाद ही इष्ट है। अतः इसी उद्देश्य से साध्य में 'अनेक' पद का समावेश किया गया है। यद्यपि लक्षणा से आत्मा शब्द के शरीरेन्द्रियादिरूप अनेक अर्थ होते हैं, तथापि वे आत्मा शब्द के शक्यार्थ नहीं हैं।

अतः प्रसङ्गानुसार वेदान्तियों को कटाक्ष किया गया है। वेदान्ती का कहना है कि आत्मा तो पारमार्थिक दृष्टि से एक है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से शरीरादि के भेद से अनेक प्रतीत होता है।

इसके विरोध में न्यायवैशेषिकों का कहना है कि पारमार्थिक दृष्टि से ही आत्मा अनेक हैं, कारण आत्मा का शक्यार्थ ही अनेकत्वयुक्त है। शरीरादि की दृष्टि से आत्मा का अनेकत्व बोध तो 'लक्षणा' से ही होती है, 'शक्ति' से नहीं। इस प्रकार आकाश शब्द का भी शक्यार्थ भूताकाश ही है। चिदाकाश आदि शब्दों का जो आत्मा के लिये प्रयोग किया गया है, वह लाक्षणिक प्रयोग है।

अथवा एक प्रवृत्तनिमित्त[1] (जाति) के अर्थ में एक आत्मत्व जाति से अनेकत्व की सिद्धि होती है। शरीरत्व, पशुशरीरत्व-नरशरीरत्व आदि भेद से अनेक प्रवृत्ति-निमित्तों से विशिष्ट है, अतः शरीरत्व जाति नहीं, उपाधि है।

आकाश, काल, दिगादि द्रव्यों के वाचक आकाश, काल आदि शब्दों में व्यभिचार के निरास के लिए हेतु में 'आत्म' पद समाविष्ट हैं। लक्षणा से आत्मा के प्रतिपादक आकाश (चिदाकाश) शब्द में व्यभिचार के निराकरणार्थं हेतु में "वाचक" पद हैं। अर्थात् आत्मा शब्द शक्ति या अभिधा से ही (आत्मा) नामक द्रव्य का वाचक है, परन्तु आकाशादि शब्दों की शक्ति आत्मा में नहीं है। आत्मवाचक एतदादि शब्दों में भी व्यभिचार नहीं है, कारण एतदादि शब्द भी शरीरावच्छिन्न अनेक आत्मा के वाचक हैं। कारण "एतद्" शब्द से निश्चयपूर्वक किसी एक ही आत्मा अभिहित नहीं होती है।

१. प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ है जिस के कारण किसी अर्थ के लिये किसी शब्द का प्रयोग किया जाय। इसी को "वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितीयप्रकारताश्रयत्वम्"—जो वाच्य हो, वाच्य में रहे तथा वाच्य में उपस्थित प्रकारता (विशेषणता) का आश्रय हो—जैसे गोत्व स्वयं वाच्य है, वाच्य गौ में रहता है तथा वाच्य गौ में प्रकार (विशेषण) के रूप में भासित होता है। अतः प्रवृत्तिनिमित्त का अर्थ जाति आदि है।

एवञ्च जहाँ तदादि सर्वनाम शब्द अनेकार्थक होने पर भी बुद्धिस्थ कुछ व्यक्तियों के लिए या एक व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं, वहाँ तदादि शब्द अनेकार्थक होते हुए एकार्थक होते हैं, क्योंकि वहाँ शब्द-प्रयोग में बुद्धिस्थतारूप उपाधि विद्यमान है और उपाधि का काम है व्यापक को संकुचित करना तथा कदाचित संकुचित् को भी व्यापक करना।

यह आत्मा है इस अर्थ में जो 'एतद्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ एक आत्मा के बोध होने से 'एतद्' या 'तद्' शब्द से 'वह आत्मा है'—इन पदों में व्यभिचार मानना उचित नहीं, क्योंकि यह वाक्यार्थ होने के कारण शक्य नहीं है। यतः पदों में शक्ति होती है; वाक्यों में नहीं, अतः इनमें व्यभिचार नहीं होता।

देवदत्तादि शब्द शरीरवाचक हैं, आत्मवाचक नहीं, अतः इनमें व्यभिचार नहीं होता। अथवा 'द्रव्यत्वावान्तरजातिमान्' इस पूर्वोक्त अनुमान से ही आत्मा का अनेकत्व सिद्ध होता है, कारण व्यक्ति के अनेक होने से ही वह जातियुक्त होता है।

जीवात्मा की अनेकता में न्याय-वैशेषिकों की प्रसिद्ध युक्तियाँ हैं—

"कश्चिद्रङ्कः कश्चिदाढ्यः कश्चिदन्यविधः पुनः।
अनयैवात्मनानात्वं सिद्धत्यत्र व्यवस्थया॥

अर्थात् लोक में देखा जाता है कि कोई गरीब है तो कोई धनी, कोई अन्य ही प्रकार का है। अतः प्रत्यक्षतः ही जीवात्मा का नानात्व सिद्ध हैं।

ब० टी०—आत्मनो व्यापकत्वं साधयति—मदिति। दृष्टान्तासिद्धिवारणाय शरीरेतरेति पक्षविशेषणम्। (आश्रयासिद्धिभङ्गाय मदिति।) मदतिरिक्तं ममापि शरीरं भवतीति व्यर्थविशेषणतावारणाय मच्छरीरेतराणीति निजगदे। गुणादौ बाधवारणाय मूर्तानीति। कालादौ बाधवारणाय मूर्तत्वशरीरनिवेशितपरिच्छिन्नत्वभागः। परिमाणयोगित्वं कालादौ व्यभिचारि तदर्थपरिच्छिन्नपरिमाणयोगित्वलक्षणं मूर्त्तत्वं हेतुः। स जीव इत्यर्थः। एवञ्चेदं क्वाचित्कत्वाभिप्रायम्। यद्वा चतुर्दशगुणवद्वृत्तिद्रव्यविभाजकोपाधिमानित्यर्थः।

विमला—जीवात्मा की व्यापकता इस अनुमान से सिद्ध होती है—

"मच्छरीरेतरमूर्त्तानि मदात्मयुञ्जि, मूर्त्तत्वान्मच्छरीरवत्।"

उक्त अनुमान में हमारे शरीर से अतिरिक्त को अर्थात् (मच्छरीरेतर) पद को पक्ष में समाविष्ट कर 'हमारे शरीर' को पक्ष से पृथक् कर दिया गया है। कारण उक्त अनुमान में दृष्टान्त के रूप में 'हमारे शरीर' का ही ग्रहण हुआ है। अतः 'मच्छरी-

रेतर' पद का पक्ष में समावेश के विना 'हमारे शरीर' के भी पक्षकोटि में आ जाने पर (हमारे शरीर) का दृष्टान्त के रूप में प्रयोग असम्भव होगा। उस स्थिति में 'हमारे शरीर' को दृष्टान्त में रखने पर दृष्टान्तासिद्धि दोष होगा। अतः दृष्टान्तासिद्धि के निराकरणार्थं पक्ष में मच्छरीरेतर' पद का समावेश किया गया है।

'मदतिरिक्त' अर्थात् मेरी आत्मा से भिन्न मेरा शरीर भी है, जो कि मेरी आत्मा से संयुक्त ही है, अतः व्यर्थविशेषणता के निराकरणार्थ 'मच्छरीरेतरमूर्त्तानि' पद पक्ष में समाविष्ट है। मेरे शरीर से भिन्न गुणादि भी हैं। किन्तु गुणादि का संयोग असम्भव है, यतः संयोग दो द्रव्यों में ही होता है। अतः 'मूर्त्त' पद पक्ष में सन्निविष्ट है, कारण मूर्त्तत्व द्रव्यों में ही होता है। मूर्त्त द्रव्य—पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन हैं। अतः पक्ष में (मूर्त्त) पद के विना हमारे शरीर से भिन्न गुणादि में साध्य न होने से बाध होगा।

कालादि में भी परिमाणवत्त्व है। परन्तु कालादि के विभु होने के कारण, विभु-संयोग का निषेध होने से कालादि के साथ आत्मा का संयोग असम्भव है। चूँकि हमारे शरीर से भिन्न कालादि द्रव्य हैं, अतः हमारे शरीर से भिन्न कालादिरूप पक्ष में साध्य का अभाव होने से बाध होगा। अतः मूर्त्तत्व का अर्थ शरीरनिष्ठ स्वल्पपरिमाणवत्त्व किया गया है।

इस प्रकार परममहत्परिमाणवान् कालादि में व्यभिचार के निरास के लिए हेतु में भी मूर्त्तत्व का अर्थ परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्व किया गया है। केवल परिमाणवत्त्व कहने पर कालादि में व्यभिचार होगा, अतः मूर्त्तत्व का उपर्युक्त अर्थ किया गया है।

ग्रन्थकार ने जीवात्मा के गुणों का वर्णन करते हुए कहा है :—'स बुद्ध्यादि-चतुर्दशगुणवान्'।

प्रकृत में 'सः' पद का अर्थ 'जीव' है।

यह चतुर्दश गुण आत्मा में कभी-कभी रहते हैं। अर्थात् मुक्त आत्मा में तो विशेषगुणों का सर्वथा अभाव होता है तथा बन्धन-दशा में भी जब आत्मा में इच्छा का उदय होता है, तब ज्ञान का अभाव रहता है। इस प्रकार तब आत्मा में तेरह ही गुण होते हैं, परन्तु पूर्णतः आत्मा में चौदह गुण ही होते हैं।

अथवा चतुर्दश गुणों से युक्त द्रव्य में वर्तमान द्रव्यविभाजकोपाधि (आत्मत्व) से युक्त द्रव्य ही जीवात्मा है।

मनोलक्षणम्, तत्र प्रमाणञ्च

मूर्त्तत्वे सति सर्वदा स्पर्शशून्यं मनः। सुखादिज्ञानमिन्द्रियजन्यम्, अनित्यज्ञानत्वात् रूपज्ञानवदिति तत्र प्रमाणम्। मनोऽणु, आत्मसंयोगित्वे

सति निरवयवत्वात्, परमाणुवदिति मूर्त्तत्वं तस्य सिद्धम्। अज-संयोगनिराकरणात् न सर्वगतेन व्यभिचारः। तत्संख्याद्यष्टगुणकम् ॥

इति प्रमाणमञ्जर्यां द्रव्यपदार्थः ॥

भाषाटीका :— मन का लक्षण प्रस्तुत करते हुए प्रमाणमञ्जरीकार ने कहा है—'जो मूर्त्त हो तथा सर्वदा स्पर्शशून्य हो, वही द्रव्य मन है।

मन का साधक प्रमाण-अनुमान इस प्रकार है—सुखादि का ज्ञान इन्द्रियजन्य है, अनित्य ज्ञान होने से, रूपादि के ज्ञान के समान। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार रूपादि का ज्ञान अनित्य होनेके कारण चक्षुरादि इन्द्रियों से जन्य है उसी प्रकार सुखादि का ज्ञान भी अनित्य है (कारण ईश्वरनिष्ठ ज्ञान के अतिरिक्त अन्य सभी ज्ञान अनित्य हैं। अतः सुखादि का ज्ञान भी अनित्य है) एवञ्च इन्द्रियजन्य भी है। सुख, दुःख आदि आत्मा में समवेत हैं, अतः वे बाह्य इन्द्रियों के विषय नहीं हो सकते। अतः सुख, दुःखादि का ग्रहण अन्तरिन्द्रिय मन से ही सम्भव है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सुखादि का ज्ञान जिस अन्तरिन्द्रिय से होता है, वही मन है। इस प्रकार मन सिद्ध है। न्याय-वैशेषिक दर्शन में मन को अणु-परिमाणविशिष्ट माना गया है। अतः ग्रन्थकार मन में अणु-परिमाण की सिद्धि करते हैं—"मन अणुपरिमाण-विशिष्ट है, क्योंकि परमाणु के समान मन आत्मा से संयुक्त होने के साथ-साथ निरवयव भी है।" जिस प्रकार परमाणु स्वयं निरवयव होते हुए विभु आत्मा से संयुक्त होने से अणुपरिमाण-विशिष्ट है, उसी प्रकार मन भी निरवयव होने से एवं आत्मा से संयुक्त होने के कारण अणुपरिमाणविशिष्ट है। इस प्रकार मन में अणुपरिमाणवत्त्व की सिद्धि होती है।

ग्रन्थकार का कहना है कि मन में मूर्त्तत्त्व की सिद्धि भी उपर्युक्त अणुत्वसाधक अनुमान से ही हो जाती है, क्योंकि मन अणु है, अतः मूर्त्त भी है। मूर्त्तत्व का लक्षण ही है—'स्वल्पपरिमाणवत्त्वम् क्रियावत्वं वा मूर्त्तत्वम्'। अतः अणु या महत्परिमाण से विशिष्ट क्रियावान् द्रव्य ही मूर्त होते हैं, परममहत्परिमाणविशिष्ट विभु द्रव्य नहीं। इस प्रकार मन के विभुत्व का भी निराकरण हो जाता है। मन का अणुत्व तो उक्त अनुमान के द्वारा ही सिद्ध है।

आगे प्रमाणमञ्जरीकार कहते हैं—अज-संयोग[1] का निषेध होने से, विभु द्रव्यों मे उपर्युक्त मन के अणुत्वसाधक अनुमान का व्यभिचार नहीं है।

इसका तात्पर्य यही है कि मन के अणुत्वसाधक अनुमान के हेतु में 'निरवयवत्वे' पद को रखा गया है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा आदि भी निरवयव द्रव्य हैं। परन्तु वैशेषिक दर्शन में विभु द्रव्यों के संयोग का निराकरण किया गया है। अतः उपर्युक्त मन के अणुत्वसाधक अनुमान के हेतु में 'निरवयवत्व' पद के साथ 'आत्मसंयोगित्वे

---

१. अज-संयोग—अर्थात् नित्य संयोग या नित्य विभु द्रव्यों का संयोग।

सति' इस सत्यन्त पद के दे देने पर उक्त विभुद्रव्यों में व्यभिचार नहीं रहा। यही ग्रन्थकार का आशय है।

मन के गुणों का वर्णन करते हुए प्रमाणमञ्जरीकार ने कहा है—संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग—इन आठ गुणों से मन युक्त है।

प्रमाणमञ्जरी की भाषाटीका में द्रव्यपदार्थ का वर्णन समाप्त हुआ ॥

ब० टी०—कालादावतिव्याप्तिं वारयितुं सत्यन्तम्। घटादावतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यभागः। प्रथमक्षणे घटादावेवातिव्याप्तिवारणाय सर्वदेति। सुखेति। लौकिकसुखसाक्षात्कार इत्यर्थः। अनुमितौ बाधवारणाय साक्षात्कार इति। अलौकिकसुखसाक्षात्कारे चक्षुरादिजन्ये बाधवारणाय लौकिकेति। रूपादिसाक्षात्कारेऽर्थान्तरवारणाय सुखेति। इन्द्रियत्वेनेन्द्रियजन्यत्वमुद्देश्यसिद्धये साध्यम्। अनित्यसाक्षात्कारत्वादित्यर्थः। ईश्वरज्ञाने व्यभिचारवारणाय अनित्येति। कालादौ व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम्। घटादौ व्यभिचारवारणाय विशेष्यभागः ॥

इति प्रमाणमञ्जरीव्याख्याने द्रव्यपदार्थस्समाप्तः ॥

विमला—न्यायवैशेषिकसम्मत नौ द्रव्यों में अन्तिम द्रव्य मन है। 'मन्यते अनेन इति मनः' अर्थात् जिसके द्वारा मनन किया जाय, वही मन है। करणार्थ में 'असुन्' प्रत्यय से संस्कृत 'मनस्' शब्द बना है।

मन सभी इन्द्रियों का प्रवर्तक, अन्तरिन्द्रिय तथा अपने संयोग से चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों का अनुग्राहक है, अर्थात् चक्षुरादि इन्द्रियाँ मन से संयुक्त होकर ही रूपादि का ग्रहण करती हैं। अतः मन को सभी उपलब्धियों का (ज्ञानों का) कारण कहा गया है—

प्रमाणमञ्जरीकार का मनो-लक्षण इस प्रकार है—

"मूर्त्तत्वे सति सर्वदा स्पर्शशून्यं मनः"।

कालादि भी सदा स्पर्शशून्यत्व है। अतः कालादि में अतिप्रसक्ति के निरास के लिये लक्षण में 'मूर्त्तत्वे सति' यह विशेषणीभूत सत्यन्त पद समाविष्ट है। घटादि भी मूर्त्त द्रव्य हैं, अतः उनमें अतिव्याप्ति के निराकरणार्थ 'स्पर्शशून्य' पद का लक्षण में विशेष्य के रूप में समावेश हुआ है।

अतः 'मूर्त्तत्व' तथा 'स्पर्शशून्यत्व' लक्षण के दोनों पद उपादेय हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन—ये मूर्त द्रव्य हैं। स्पर्शशून्य द्रव्य हैं—आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन। परन्तु मूर्त्त तथा सर्वदा स्पर्शशून्य द्रव्य एकमात्र मन है।

मन के लक्षण में 'सर्वदा' पद के न देने पर उत्पत्तिकालीन घटादि में लक्षण की अतिव्याप्ति होती, क्योंकि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति' इस न्याय-वैशेषिकों के सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति के प्रथम क्षण में घटादि भी स्पर्शादि गुणों से रहित हैं, अतः उत्पत्ति के प्रथम क्षण के घटादि में अतिव्याप्ति के निषेध के लिए लक्षण में 'सर्वदा' पद सन्निविष्ट है।

प्रमाणमञ्जरीकार का मनः-साधक अनुमान है— "सुखादिज्ञानमिन्द्रियजम्, अनित्यज्ञानत्वात् रूपज्ञानवत्।"

उक्त अनुमान के पक्ष में प्रविष्ट 'सुखादिज्ञान' पद का अर्थ है सुखादि का लौकिक साक्षात्कार। अन्यथा सुखादि का अलौकिक साक्षात्कार तो किसी भी इन्द्रिय से हो सकता है। सुख की अनुमिति भी होती है, किन्तु वहाँ इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं पड़ती, कारण अनुमिति इन्द्रियों से जन्य नहीं है। अतः पक्ष में साध्याभाव के कारण बाध की सम्भावना थी। अतः उक्त अनुमान के पक्ष में सुख की अनुमिति नहीं, अपितु साक्षात्कार अर्थात् सुखादि के प्रत्यक्षज्ञान को ही पक्षमें रखा गया है। अलौकिक साक्षात्कार तो चक्षुरादि से भी 'सुरभि चन्दनम्' की भाँति होता ही है, परन्तु वह मन-रूप इन्द्रिय से जन्य नहीं है, अतः बाध के निषेध के लिये पक्ष में 'लौकिक' पद अवश्य देय है। रूपादि के साक्षात्काररूप अर्थान्तर के निषेध के लिये 'सुख' पद पक्ष में समाविष्ट है।

अनुमितिरूप ज्ञान में भी मन की आवश्यकता (कारणता) होती है। किन्तु वहाँ मनोनिष्ठकारणता का अवच्छेदक मनस्त्व होता है। अतः अनुमिति के प्रति मन 'मनस्त्वेन रूपेण' कारण है, परन्तु इन्द्रियजन्य मानसप्रत्यक्ष के प्रति मनोनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक इन्द्रियत्व होता है।

अतः मानस प्रत्यक्ष के प्रति मन (इन्द्रियत्वेन) कारण हैं। मन को 'इन्द्रियत्वेन' कारणता की सिद्धि के लिये तथा सुखादिज्ञान मनोरूप इन्द्रिय से जन्य है—यह सिद्ध करने के लिये साध्य में 'इन्द्रियजम्' पद का समावेश हुआ है।

उक्त अनुमान के हेतु में भी 'अनित्यज्ञान' का अर्थ अनित्य साक्षात्कार है। ईश्वर-ज्ञान में व्यभिचार के निषेध के लिये हेतु में 'अनित्य' पद है, कारण नित्य ईश-ज्ञान में इन्द्रियजन्यता नहीं है।

मन का अणुत्व-साधक अनुमान है—'मनोऽणु, आत्मसंयोगित्वे सति निरवयवत्वात् परमाणुवत्"। मन के अणुत्व के साधक अनुमान के हेतु में 'आत्मसंयोगित्वे सति' यह सत्यन्त पद निरवयव कालादि में व्यभिचार के निरास के लिये प्रविष्ट है—यह तो पहले ही उल्लिखित हुआ है। उक्त हेतु में 'निरवयत्व' पद आत्मसंयुक्तघटादि में व्यभिचार के निराकरणार्थ समाविष्ट है॥

बलभद्र मिश्र कृत टीका की 'विमला' नाम की व्याख्या में द्रव्य पदार्थ का निरूपणसमाप्त हुआ॥

इति प्रत्यक्षखण्डं सम्पूर्णम्॥

—०—